CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

हि. ६३५

अप्पय दीक्षित

डॉ० नरेन्द्रनाथ शर्मा

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वि: ६२९

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अप्पय दीक्षित

डॉ० नरेन्द्रनाथ शर्मा

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अप्पय दीक्षित

शिक्षा तथा समाज-कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय ग्रन्थ-योजना के अन्तर्गत मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वारा प्रकाशित

920.921
SHA

वि. नं. १५८८०५

वाल्मीकि विद्यापीठ-पुस्तकालय

प्रकाशक

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

९७, मालवीयनगर, भोपाल

©

मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

संस्करण

प्रथम : १९७२

मूल्य : ४-००

मुद्रक : साधना प्रेस, लोहिया बाजार, ग्वालियर-१

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्रस्तावना

साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र में अप्पय दीक्षित का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। वे न केवल अलङ्कार-शास्त्र के परवर्त्ती मूर्धन्य विचारक थे, अपितु साहित्यशास्त्र के सभी अंगों पर उनका अप्रतिम अधिकार था। मीमांसा शास्त्र का उनका अध्ययन अत्यन्त गहरा था और यह सब तभी सम्भव था जब उन्होंने नव्य न्याय एवं व्याकरण के साथ-साथ वैदिक वाङ्मय का समीक्षात्मक अध्ययन किया हो। उन्होंने अपने ग्रन्थों में जिस तरह यथावसर पूर्ववर्त्ती आचार्यों के मतों का खण्डन कर अपने विषय की प्रस्थापना की है, वह उनकी प्रखर विदग्धता एवं तीक्ष्ण प्रतिभा का प्रमाण है। इधर दो तीन शताब्दियों के भीतर शायद ही कोई विद्वान् इतनी-गहरी पैठ के साथ मौलिक कृतियों से साहित्योद्यान को सुरभित कर सका है।

अप्पय दीक्षित का सम्पूर्ण परिवार विद्या व्यसनी था। उनके पूर्वज अपनी विद्वत्ता के लिए प्रसिद्ध थे। साथ ही उनकी परगामी पीढ़ियों और बन्धु-बान्धवों ने भी काव्य और शास्त्र के विषय में अच्छी ख्याति कमायी है। इनमें नीलकण्ठ दीक्षित के नाम से तो सारा संस्कृत जगत परिचित है। कश्मीर, केरल, कर्नाटक और मध्यप्रदेश संस्कृत साहित्य एवं अन्य शास्त्रों की दृष्टि से बड़े उर्वर रहे हैं। दाक्षिणात्य प्रदेशों ने तो १७ वीं–१८ वीं शताब्दी में यदि संस्कृत साहित्य को समृद्ध न किया होता तो सम्भवतः इसका इतिहास मुग़लकाल के पश्चात् समाप्त-

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्राय हो गया होता। चाहे काव्य हो चाहे रूपक सभी विधाओं में केरल और मध्यप्रदेश की देन अपूर्व है।

और यह परम्परा एकाध वर्ष में नहीं बनीं। 'भरत नाट्यम्' की जन्मस्थली इतिहास के उषःकाल से ही अत्यन्त उर्वरा रही है। शैव निष्ठा का तो यह प्रतिष्ठान क्षेत्र है ही, वैष्णव श्रद्धा का भी उत्स यही है। अद्वैतवाद की विभिन्न शाखाओं के आचार्यों को जन्म देने का श्रेय इसी पुण्य-स्थली को प्राप्त है। यह सत्य है कि साहित्य शास्त्र के क्षेत्र में पण्डितराज के बाद कोई चकाचौंध कर देने वाली कृति का निर्माण नहीं हुआ। फिर भी चित्र मीमांसा और कुवलयानन्द का महत्त्व कुछ कम नहीं हुआ। कुवलयानन्द तो आज भी साहित्य के अध्येताओं में अत्यन्त लोकप्रिय हैं।

जहाँ तक मेरी जानकारी है संस्कृत साहित्य-शास्त्र के भरत से लेकर पण्डितराज तक के आचार्यों पर कुछ न कुछ लिखा गया और किसी न किसी पर तो व्यापक चर्चा हुई है। किन्तु न जाने क्यों अप्पय दीक्षित की बहुमुखी प्रतिभा की ओर विद्वानों का ध्यान अधिक नहीं गया। इस बात को ध्यान में रख कर अकादमी प्रस्तुत समीक्षा ग्रन्थ प्रकाशित कर रही है। आचार्य माला की यह अन्तिम मणि है। डॉ० नरेन्द्र शर्मा ने पर्याप्त अध्ययन और चिन्तन के पश्चात् अकादमी के अनुरोध पर इसका प्रणयन किया है। आशा है सुधी समाज में इस कृति का समुचित आदर होगा।

प्रभुदयालु अग्निहोत्री

(डॉ० प्रभुदयालु अग्निहोत्री)
संचालक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्राक्कथन

संस्कृत साहित्य के विविध क्षेत्रों में अप्पय दीक्षित का अपूर्व योग रहा है। किन्तु, उनकी ख्याति के प्रयोजकतत्त्व उनकी काव्यशास्त्रीय कृतियों में ही निहित हैं। मैंने उन्हीं तत्त्वों की व्याख्या की है जिन तत्त्वों को लेकर ध्वनिवादियों और अलंकारवादियों में गहरा मतभेद चला आ रहा है। दूसरी ओर, जगन्नाथ ने उनकी अलङ्कारपरिभाषाओं पर गहरे आक्षेप किये हैं और नीलकण्ठ ने उनका उत्तर दिया है। प्रस्तुत विवेचन का उद्देश्य इन आक्षेप-प्रत्याक्षेपों की व्याख्या करना नहीं है, प्रत्युत उन प्रवृत्तियों का निरूपण करना हैं जो ध्वनिवादियों से उपेक्षित चित्रकाव्य को प्रतिष्ठापित करने में सक्रिय रही हैं।

प्रस्तुत कार्य 'रचना अकादमी, भोपाल' की रचना-योजना के अन्तर्गत है। यह संस्था प्रस्तावित विषय पर अनुसन्धान कर्त्ता को नियमानुसार पुरस्कृत करती है। इस संस्था के संचालक स्वनामधन्य, लोकविश्रुतमनीषी डॉक्टर प्रभुदयालु अग्निहोत्री हैं। उनके सूक्ष्म निरीक्षण में, उनके प्रोत्साहन से प्रभावित होकर, उनके सुझावों का सदुपयोग करते हुए मैंने इस कार्य को सम्पन्न किया है। कार्य-परिणति का जो सुखद सौभाग्य मुझे आज प्राप्त हुआ है उसके लिये मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ।

दीपमाला
१८-१०-१९७१

नरेन्द्रनाथ शर्मा

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ संख्या
प्रस्तावना		
प्राक्कथन		
भूमिका	...	१-८
अप्पय दीक्षित		
१. अप्पय दीक्षित के नाम	...	९-१०
२. अप्पय दीक्षित का समय	...	१०-१२
३ अप्पय दीक्षित की कृतियाँ	...	१२-१८
४. काव्यशास्त्र में अप्पय दीक्षित का योगदान	...	१९-२०
वृत्तिवार्तिक		
(क) शक्ति व अभिधा	...	२१-२२
(ख) अभिधा के भेद	...	२२-३३
(ग) लक्षणा	...	३३-३४
(घ) लक्षणा के भेद	...	३४-४१
चित्रमीमांसा		
१ अप्पय दीक्षित और काव्यलक्षण विचार	...	४२
२. काव्यभेद विचार	...	४२-४८
(क) ध्वनिकाव्य	...	४३-४४
(ख) गुणीभूत व्यंग्यकाव्य	...	४५
(ग) चित्रकाव्य	...	४५-४६
(घ) चित्रकाव्य के भेद	...	४६-४८
(१) शब्दचित्र	...	४६
(२) अर्थचित्र	...	४७
(३) उभयचित्र	...	४७-४८
३. चित्रकाव्यमीमांसा	...	४८-५१

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विषय		पृष्ठ संख्या
४. अर्थचित्र के उपस्कारक अर्थालंकार	...	५२-६८
(१) उपमा	...	५२-५६
उपमा के भेद		५६-६०
उपमालंकार और उपमाध्वनि	...	६०
(२) उपमेयोपमा	...	६१-६२
साधर्म्य के व्यंग्य होने पर	...	६२-६३
साधर्म्य के वाच्य होने पर	...	६३
वस्तु-प्रतिवस्तुभाव में उपमेयोपमा	..	६३
(३) अनन्वय	...	६३-६५
अनन्वय अलंकार और अनन्वय-व्यंग्य में अन्तर	...	६५-६६
(४) स्मरण	...	६६-६८
(५) रूपक	...	६८-७२
(६) परिणाम	...	७२
प्राचीनों के लक्षण में भ्रान्तिमान्, अपह्नुति, अतिशयोक्ति तथा अनुमान में अतिव्याप्ति	...	७२-७६
परिणाम के भेद	...	७६-७७
(७) ससन्देह	...	७७-७८
ससन्देह के भेद	...	७८-७९
(८) भ्रान्तिमान्	...	७९-८०
भ्रान्तिमान् के भेद	...	८०-८१
(९) उल्लेख	...	८१
उल्लेख के भेद्	...	८१-८२
(१०) अपह्नुति	...	८३-८४
अपह्नुति के भेद	...	८४-८६
(११) उत्प्रेक्षा	...	८७-९०
गम्योत्प्रेक्षा और उत्प्रेक्षाध्वनि में भेद	...	९०-९१
उत्प्रेक्षा में वस्तुध्वनि	...	९१

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विषय		पृष्ठ संख्या
उत्प्रेक्षा में अलंकारध्वनि	...	९१-९२
उत्प्रेक्षा भेद	...	९२
(१२) अतिशयोक्ति	...	९२
अतिशयोक्ति के भेद	...	९२-९८
कुवलयानन्द		
(१) अर्थचित्रोपस्कारक कतिपय अलंकारों का वर्णन	...	९९-१०३
(१) दृष्टान्त	...	९९-१००
(२) निदर्शना	...	१००-१०२
(३) प्रतिवस्तूपमा	...	१०२-१०३
(२) कुवलयानन्द में नये अलंकारों का विधान	...	१०३-११४
(१) प्रस्तुताङ्कुर	...	१०४-१०५
(२) अल्प	...	१०५
(३) कारकदीपक	...	१०५-१०६
(४) मिथ्याध्यवसिति	...	१०६
(५) ललित	...	१०७-१०८
(६) अनुज्ञा	...	१०८
(७) मुद्रा	...	१०८-१०९
(८) रत्नावली	...	१०९
(९) विशेषक	...	१०९
(१०) गूढोक्ति	...	११०
(११) विवृतोक्ति	...	११०-१११
(१२) युक्ति	...	१११-११२
(१३) लोकोक्ति	...	११२
(१४) छेकोक्ति		११३
(१५) निरुक्ति	...	११३
(१६) प्रतिषेध	...	११३-११४
(१७) विधि	...	११४
उपसंहार	...	११५-११८
ग्रन्थसूची	...	११९

○

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

भूमिका

संस्कृत साहित्य के ख्यातिलब्ध लेखकों में अप्पय दीक्षित की भी गणना है। इस श्रेय का कारण उनकी काव्य शास्त्रीय कृतियाँ हैं। वैसे तो वेदान्त, मीमांसा और व्याकरण के क्षेत्र में भी उन्होंने व्यापक योग दिया है, किन्तु इन विषयों पर उनके समकालीन या उत्तरवर्त्ती लेखकों की जो कृतियाँ मिलती हैं उनमें उनके नाम से न तो कहीं कोई उद्धरण और न ही किसी प्रसङ्ग में कोई चर्चा उपलब्ध है। दूसरे, इन विषयों की रचनाओं का कर्तृत्व भी सन्दिग्ध है। इसलिये इन कृतियों के आधार पर दीक्षित का मूल्यांकन न्यायपूर्ण अथवा संगत नहीं होगा। दूसरी ओर उनके जीवन काल में और उपरान्त उनकी काव्यशास्त्रीय कृतियाँ ही चर्चा का विषय रही हैं। कारण कि रूढ़िवादी होते हुये भी उन्होंने काव्य शास्त्र के विभिन्न पहलुओं पर कुछ ऐसे क्रान्तिकारी विचार प्रकट किये जो काव्यशास्त्रियों को मान्य नहीं। ईसा की सत्रहवीं शती के आरम्भ में ही मुगलसम्राट शाहजहाँ के सभापण्डित जगन्नाथ ने[1] प्रायः उनके सभी काव्य सिद्धान्तों की आलोचना की जिसकी प्रत्यालोचना दीक्षित के भ्रातृपौत्र नीलकण्ठ की कृति चित्रमीमांसा दोषधिक्कार में मिलती है। इन आरोप-प्रत्यारोपों ने भी, काव्यशास्त्र के जगत् में, निश्चित ही दीक्षित की ख्याति को प्रसृत किया है।

---

१. दीक्षित और जगन्नाथ में द्वेष के कारण वैयक्तिक थे। संकीर्ण धार्मिक विचारों के उस युग में मुगल सम्राट् शाहजहाँ का आश्रय पाकर मुगल संस्कृति के विलासमय वातावरण में जगन्नाथ परम्परागत सामाजिक मर्यादाओं के प्रति विमुख हो गये थे। उनके सामाजिक आचार-विचार व्यतिक्रमों की प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। कहा जाता है कि उन्हें जातिबाह्य करने वाले वर्ग का नेतृत्व दीक्षित ने किया था।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वास्तव में दीक्षित की ख्याति के कारण कुछ भिन्न ही हैं। दीक्षित अलंकारवादी थे। उन्होंने भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट तथा अन्य आलंकारिकों की परम्परागत रूढ़ियों को मान्यता दी। यहाँ तक कि कुवलयानन्द में अलंकारों और उनके उदाहरणों के लिये जयदेव के चन्द्रलोक का आश्रय लिया। तो भी अपनी कृतियों में वे कुछ ऐसे विलक्षण तत्त्व छोड़ गये जिससे काव्य-परिभाषा का स्वरूप ही बदल गया। काव्यशास्त्र के इतिहास में वे प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने ध्वनिवादियों की बहुसम्मत धारणा के विरुद्ध अलंकार प्रधान वर्णनात्मक प्रतिकृतिरूप चित्रकाव्य के उद्धार का सफल प्रयास किया है।

दीक्षित के पूर्व, ध्वनि और अलंकार को लेकर काव्यशास्त्रियों के दो मुख्य सम्प्रदाय थे जो आज तक चले आते हैं। काव्य की परिभाषा पर दोनों सम्प्रदायों में गहरा मतभेद है। ध्वनिवादियों के विचार में काव्य की आत्मा रस है, शब्दार्थ रस के अभिव्यञ्जक हैं, अलंकार उसके चमत्कारक हैं। इस अर्थ में रस व्यंग्य है, अलंकार नहीं है। अलंकार के विना भी, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव की उपस्थिति से काव्य में रसनिष्पत्ति हो सकती है। इस सम्प्रदाय में आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ के नाम प्रमुख हैं। कई विषयों में इनके आपसी मतभेद होने पर भी यह वर्ग इस बात पर सहमत है कि रस व ध्वनि ही काव्य की आत्मा है और अलंकार काव्य का अनिवार्य धर्म नहीं है।

दूसरी ओर, ध्वनिवादियों के विचार के सर्वथा प्रतिकूल प्राचीन आचार्यों का अलंकार सम्प्रदाय है जो रस और उसके सहधर्मियों को रसवदादि अलंकार मानकर अलंकार की महत्ता को प्रतिष्ठित करता है। इस मत में अलंकार काव्य में गुणों के समान समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। वे काव्य के नित्य धर्म हैं। उनके बिना काव्य का अस्तित्व ही नहीं है।

इस अर्थ में दीक्षित अलंकारवादी वर्ग में आते हैं। इसलिए भी कि चित्रकाव्य की योजना में अलंकारों का प्रमुख योग है और दीक्षित ने चित्रकाव्य को ध्वनिकाव्य के समकक्ष उत्कृष्ट माना है। किन्तु, इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वे रस को महत्त्व नहीं देते। "रस काव्य की आत्मा है" ध्वनिवादियों के इस कथन पर उन्हें आपत्ति नहीं है। क्योंकि उनके चित्रकाव्य का लक्ष्य भी "रसनिष्पत्ति" ही है। अतएव उन्होंने काव्य के रसहीन अवयवों को हेय कहकर उनका वर्णन नहीं किया। तो भी ध्वनिवादियों से उनका गहरा मतभेद इस बात पर है कि वे चित्रकाव्य के अन्तर्गत रस को वाच्य मानते हैं। जब कोई

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अलंकारोपस्कृत अर्थचित्र किसी रस का प्रतिपादन करता है तब रस वाक्य का व्यंग्यार्थ न होकर वाच्यार्थ हो जाता है। वृत्तिवार्तिक में श्लिष्ट पदों की चर्चा करते हुए उन्होंने इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि जहाँ कोई पद द्व्यर्थक होता है वहाँ दोनों अर्थ - प्राकरणिक और अप्राकरणिक - वाच्य होते हैं और वहाँ अप्राकरणिक अर्थ को व्यंग्य मानना उचित नहीं है। इस धारणा के पृष्ठ में दीक्षित पर अभिधा के दीर्घदीर्घतर व्यापार के समर्थक मीमांसकों का प्रभाव लक्षित होता है।

तोभी दीक्षित विशुद्ध अभिधावादी नहीं हैं। चित्रमीमांसा में उन्होंने ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य की सोदाहरण व्याख्या की है और उन स्थितियों में जहाँ किसी पद के व्यंग्यपरक होने से सम्पूर्ण पद्य का अर्थ बदल जाता है या विधि-वाक्य निषेध में परिणत हो जाते हैं, उन्होंने वस्तु, अलंकार व रसध्वनि को माना है। अतएव चित्रमीमांसा के अलंकार प्रकरण में उन्होंने यत्र-तत्र अलंकार से पृथक् अलंकार ध्वनि का विवेचन किया है। शब्दशक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक और शब्दार्थोभय शक्तिमूलक ध्वनि के उदाहरण भी दिये है।

दीक्षित ध्वनिकाव्य के विरोधी नहीं हैं। केवल ध्वनिकाव्य उनके विवेचन का विषय नहीं है। वैसे तो संस्कृत साहित्य में ध्वनि काव्य विरले ही हैं। कुछ प्राकृत काव्य जैसे हाल की सप्तशती, कुछ संस्कृत काव्य में बिखरे हुए इने-गिने पद्य ध्वनि के उदाहरण हो सकते हैं। किन्तु अधिकांश काव्य व्यंग्यहीन, वर्णनात्मक प्रतिकृतिरूप है जो तुलना में ध्वनि-काव्य से न्यून नहीं है। ध्वनि की कसौटी पर ही यदि काव्य के उत्कर्ष की परीक्षा की जाय तो अधिकांश काव्य जिनमें कालिदास, भवभूति जैसे महाकवियों की रचनायें भी सम्मिलित हैं; निर्दोष नहीं उतरेंगी। उनमें बिरले ही पद्य मिलेंगे जिनमें ध्वनि या गुणीभूत व्यंग्य हो। व्यंग्य के अभाव में भी इनके काव्य सरस और सुन्दर हैं। अलंकारों के योग से ही इन काव्यों की शोभा है। उपमा के योग से ही कालिदास "कविकुलगुरु" हैं।

इस प्रसङ्ग में चित्रकाव्य के स्वरूप का निरूपण उचित ही होगा। इसलिये भी, क्योंकि इस सम्बन्ध में काव्य-शास्त्रियों की धारणायें भ्रमात्मक हैं। उदाहरणतः—आचार्य मम्मट[1] व्यंग्यहीन चित्रकाव्य को काव्य की अधम कोटि में रखते हैं। कविराज विश्वनाथ[2] ने चित्रकाव्य को माना ही नहीं। क्योंकि जब

---

१. काव्य प्रकाश १. 'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्।'

२. साहित्यदर्पण ४. 'अत्र केचिच्चित्राख्यं तृतीय काव्यभेदमिच्छन्ति, तन्न।'

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रसात्मक वाक्य ही काव्य है और काव्यात्मभूत रस व्यंग्य है तब व्यंग्यहीन चित्र कैसे काव्य हो सकता है ? पण्डितराज जगन्नाथ अर्थ-चित्र को गुणीभूत व्यंग्य का अजागरूक प्रकार मानते हैं और व्यंग्यहीन शब्दचित्र को अधम काव्य कहते हैं। ध्वनिवादियों में आनन्दवर्धन[1] ने ही चित्रकाव्य की सत्ता को माना है, किन्तु उसे उत्तम काव्य नहीं कहा। दूसरी ओर अलंकारवादी आचार्य चित्रोपस्कारक अलंकारों के गौरव का गुणगान तो करते रहे, किन्तु अलंकारोपस्कृत चित्रकाव्य की मीमांसा नहीं की। इनमें दीक्षित ही ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने चित्रकाव्य में अलंकारों को रसनिष्पत्ति का माध्यम मानकर सिद्ध किया है कि रस व्यञ्जनावादियों की ही बपौती नहीं है, प्रत्युत व्यंग्यहीन चित्रकाव्य भी रस का प्रयोजक हो सकता है। चित्रमीमांसा में वे चित्र की परिभाषा इस प्रकार करते हैं : यदव्यंग्यमपि चारु तच्चित्रम् "जो व्यंग्यहीन होने पर भी सुन्दर हो।"

चित्र का अर्थ है वैचित्र्य, चमत्कृति, रमणीयता। इस व्यापक अर्थ में यह काव्य का गुण है जो उसमें अभेदरूप से रहता है। शब्द वैचित्र्य होने पर शब्द चित्र, अर्थ वैचित्र्य होने पर अर्थचित्र और शब्द-अर्थ वैचित्र्य होने पर उभयचित्र बनते हैं। इनमें अलंकार ही वैचित्र्य के आधायक हैं। यही शब्द, अर्थ और शब्दार्थ चित्रों को बनाते हैं। काव्यशास्त्र में शब्दचित्र के उपस्कारक आठ[2] शब्दालंकारों का निर्देश है। शब्दचित्र की रचना में इनमें से किसी भी एक का उपयोग हो सकता है। किन्तु इनसे उपस्कृत शब्दचित्र स्वाभाविक नहीं होते। इसलिए काव्यशास्त्रियों ने इसे अधम कोटि में रखा है। दीक्षित भी इसे नीरस कहकर इसका निरूपण नहीं करते।[3] अतएव उन्होंने इसके उपस्कारक शब्दालंकारों का वर्णन नहीं किया।

---

१. ध्वन्यालोक ३. प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
उभे काव्ये तदन्यद् यत्तच्चित्रमभिधीयते ॥
रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ॥
रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा।
तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्तु न गोचरम् ॥

२. इनकी संख्या पर आचार्यों में मतभेद है।

३. चित्रमीमांसा, पृ० ४०

"शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वान्नात्यन्तं तदाद्रियन्ते कवयः। न वा तत्र विचारणीयमतीवोपलभ्यते इति शब्दचित्रांशमप—हायार्थचित्रमीमांसा प्रसन्नविस्तीर्णा प्रस्तूयते।"

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

दीक्षित की उक्त धारणा विचारणीय है। काव्य के क्षेत्र में अलंकार, चाहे वे शब्दगत हों, चाहे अर्थगत, चाहे उभयगत, काव्य का चमत्कार बढ़ाते हैं। वाक्य की पदयोजना में या अर्थाभिव्यक्ति में या एक साथ दोनों में उनके प्रयोग से चमत्कार उत्पन्न होता है। शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों के चमत्कृति क्षेत्र अलग-अलग हैं। अर्थालंकार बौद्धिक विचारों और हृदयावेगों को अलंकृत करते हैं, शब्दालंकार पदयोजना को उज्ज्वल और प्रभावक बनाते हैं। रसनिष्पत्ति में दोनों का योगदान सराहनीय है।

किन्तु इस दिशा में दीक्षित ने शब्दालंकार विरोधी परम्परा का ही अनुसरण किया है। काव्यक्षेत्र में उनके पूर्व, अलंकारवादी आचार्य अर्थालंकारों को ही 'रसनिष्पत्ति' का साधन मानते रहे। उनका ध्यान इस ओर नहीं गया कि वर्णों का विशिष्ट विन्यास भी रम्य चित्रों का निर्माण कर सकता है। और भी, शब्द-अर्थ दोनों सम्पृक्त हैं। महाकवियों के प्रबन्धों में दोनों की समयोजना से ही रसानुभूति होती है। तब शब्दालंकारों को नीरस और हेय कहना कहाँ तक उचित था?

दीक्षित ने अर्थालंकारों का ही विवरण दिया है, शब्दालंकारों का नहीं। शब्दालंकारों के परिवर्जन से अर्थालंकार ही शेष रह जाते हैं। उभयालंकारों का प्रश्न ही नहीं उठता।

अर्थालंकारों पर दीक्षित की दो कृतियाँ हैं: चित्रमीमांसा और कुवलयानन्द। चित्रमीमांसा अधूरी कृति है। इसमें चित्रकाव्य के उपस्कारक दस सादृश्यमूलक और दो अध्यवसायमूलक अर्थालंकारों की मीमांसा की गयी है। अन्तिम अलंकार अतिशयोक्ति अधूरा ही रह गया है। इसमें उपलब्ध अर्थालंकारों के अतिरिक्त अन्य अर्थालंकारों का भी विवरण था, क्योंकि दूसरी कृति कुवलयानन्द में इसके कई ऐसे अलंकारों का निर्देश मिलता है जो उपलब्ध चित्रमीमांसा में नहीं पाये जाते।

कुवलयानन्द में लगभग सवा सौ अर्थालंकारों का विवरण मिलता है। इनमें ९६ अर्थालंकार जयदेव के चन्द्रालोक में मिलते हैं। दीक्षित ने वहीं से उनके लक्ष्य-लक्षण लेकर उन पर टीका टिप्पणी की है। इस अंश में दीक्षित जयदेव के ऋणी हैं। कुवलयानन्द के आरम्भ[१] और उपसंहार में[२] उन्होंने इस तथ्य को स्वीकार किया है।

---

१. कुवललयानन्द, पृ० २ येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः ।
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते ॥

२. वही, पृ० ३०४ चन्द्रालोको विजयतां शरदागमसम्भवः ।
हृद्यः कुवलयानन्दो यत्प्रसादादभूदयम् ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जयदेव सम्मत अलंकारों का व्याख्यान करने के अतिरिक्त दीक्षित[१] ने (१) रसवदादि (२) प्रत्यक्षादि और (३) प्रस्तुता तांकुरादि अलंकारों के तीन वर्गों का भी निर्देश किया है। रसवदादि सात अलंकार भावपरक हैं, प्रत्यक्षादि दस प्रमाणालंकार हैं जो अन्य आचार्यों की कृतियों में भी मिलते हैं। किन्तु प्रस्तुतांकुरादिवर्ग के सत्रह अलंकारों के सम्वन्ध में आचार्यों में गहरा मतभेद है। इस वर्ग के प्रायः सभी अलंकार किसी न किसी अन्य अलंकार में अथवा किसी अन्य काव्य-शास्त्रीय विषय कोटि में समाविष्ट हो सकते हैं। जैसे प्रस्तुतांकुर अप्रस्तुतप्रशंसा में, मिथ्याधिवसिति अतिशयोक्ति में, ललित निदर्शना में, गूढ़ोक्ति वस्तुध्वनि में, विवृतोक्ति गुणीभूत व्यंग्य में, युक्ति व्याजोक्ति में। किञ्चिद्विलक्षणता के आधार पर यदि हम नये अलंकारों की कल्पना करने लगें तो असंख्य अलंकारों की कल्पना करनी होगी।[२] तो भी दीक्षित के ये अलंकार अपना विशिष्ट गौरव रखते हैं। दीक्षित को इतना विधान क्यों करना पड़ा इसकी समीक्षा प्रस्तुत निबन्ध में इन अलंकारों के विवेचन में मिलेगी।

अर्थालंकारों का महत्त्व उनकी संख्या पर नहीं, उनकी रसपरता या भाव-परता पर निर्भर है। जैसे कि महाकवि कालिदास की कृतियों में उपमालंकार अकेले ही हजारों अर्थचित्रों का सृजन करता है वैसे ही सभी अर्थालंकार विविध अर्थचित्रों के सृजन की क्षमता रखते हैं। दीक्षित की काव्यशास्त्रीय कृतियों का, विशेषतः चित्रमीमांसा का, एकमात्र विषय है: चित्रकाव्य की रचना में अर्थालंकारों का योगदान।

अर्थालंकारों की पृथक्-पृथक् कोटियाँ है:[३] सादृश्यगर्भ, विरोधगर्भ, शृङ्खला बन्ध आदि। इनके अवान्तर प्रकार हैं: जैसे सादृश्यगर्भ के भेदाभेद प्रधान, अभेद प्रधान, गम्यौपम्य प्रधान। इनमें अभेदप्रधान के भी प्रकार हैं: आरोप मूलक, अध्यवसाय मूलक। इस तरह अर्थालंकार कुछ निश्चय कोटियों में विभक्त होकर अनन्त अर्थचित्रों का निर्माण करते हैं जिनका प्रयोजन संकेतों के माध्यम से अव्यक्त पदार्थ को या भावात्मक तत्त्व को प्रतिकृति के रूप में साकार करना होता है।

---

१. विवरण के लिए देखिए—व्यास कुवलयानन्द भूमिका, पृ० २७-३६

२. रसगङ्गाधर, पृ० ५४५
किञ्चिद्वैलक्षण्यमात्रेणैवालंकारान्तरता कल्पने वाग्भङ्गीनामानन्त्यादलंकारानन्त्यप्रसङ्गः।

३. देखिए: रुय्यक के अलंकारसर्वस्व में अलंकारों का वर्गीकरण।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ध्वनि और चित्र–दोनों का प्रयोजन रसनिष्पति है ।[१] ध्वनिवादियों का विचार है कि रस व्यंग्य है, शब्दशक्ति मूलक, अर्थशक्ति मूलक और शब्दार्थोभय शक्तिमूलक ध्वनि से रसानुभूति होती है। अलंकारवादी भी अलंकार चित्रों को रसपरक मानते हैं। इस प्रकार ध्वनि और अलंकार दोनों ही रस के साधन हैं।

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से रसनिष्पति होती है । यह सिद्धान्त नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि की देन है । इस सिद्धान्त का प्रयोग दृश्यकाव्य में होता है । श्रव्य काव्य में इसका प्रयोग करते समय काव्यशास्त्रियों ने इसकी दृश्यात्मकता को भुला ही दिया। यह सोचा ही नहीं कि कौनसा चित्र किस रस की कोटि में आ सकता है । वे रसके विश्लेषण में ही लगे रहे । उसके माध्यम का विचार ही नहीं किया । यदि माध्यम की कहीं कुछ चर्चा भी की तो भी उसका मूल्याङ्कन नहीं किया । वे इस भ्रान्त धारणा में ही रहे कि अलंकार शब्द-अर्थ के अस्थिर धर्म हैं, रस के नित्य धर्म नहीं हैं ।

उक्त विवेचन सम्भवतः इस निष्कर्ष का घटक है कि चित्रकाव्य वैसे ही रसास्वादन का प्रयोजक है जैसे ध्वनिकाव्य । ठीक ही अलंकार और ध्वनि के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं तो भी दोनों एक साथ रह सकते हैं। अलंकारों से वाच्य-चित्रों का और ध्वनि से व्यंग्य चित्रों का निर्माण होता है । दोनों प्रकार के चित्र रसपरक होते हैं। तब चित्रकाव्य को निकृष्ट कोटि में रखना कहाँ तक उचित है ?

ध्वनिवादियों की दृष्टि में चित्र काव्य खड्गादि बन्धों तक सीमित होकर चित्रालंकार मात्र हो गया । अर्थचित्र के उपस्कारक अर्थालंकार कटककुण्डला-दिवत् काव्यशरीर के बाह्य उपकरण मात्र रह गये । शब्दचित्र के उपस्कारक शब्दालंकार नीरस और हेय समझे गये, यहाँ तक कि चित्रकाव्य के उन्नायक दीक्षित को भी शब्दचित्र और उसके उपस्कारक शब्दालंकारों का बहिष्कार करना पड़ा । इस विकट स्थिति में काव्यशास्त्र के इतिहास में अर्थचित्र और उसके उपस्कार अर्थालंकारों के वास्तविक मूल्यांकन का श्रेय अवश्य ही दीक्षित को मिलना चाहिए ।

---

१. ध्वन्यालोक ५—रसादि परता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः ।

चि. मी., पृ. ४०—नीरसता के कारण शब्दचित्र को अनुपादेय कहने से अर्थचित्र की सरसता सिद्ध हो जाती है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

काव्यशास्त्र का क्षेत्र दीक्षित की अमूल्य सम्पत्ति है। इसमें दीक्षित ने समुचित सुधार, उपयुक्त परिवर्तत और नवीन रोपण किये हैं। इस परिमार्जित, परिवर्तित और रोपित क्षेत्र के चित्रों को प्रस्तुत करके उनका मूल्यांकन करना दीक्षित का ध्येय रहा है। सम्भव है कि प्रयोग करते समय कहीं भूल हो गयी हो, किन्तु व्यापक रूप में प्रयोग के परिणाम स्पृहणीय रहे हैं।

○ ○ ○

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अप्पय दीक्षित

संस्कृत साहित्य के इतिहास में अप्पय दीक्षित का विशिष्ट स्थान है। अप्पय दीक्षित बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे, जिन्होंने मीमांसा, वेदान्त, व्याकरण और काव्यशास्त्र के विषयों पर महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये। काव्यशास्त्र में तो उनका योगदान अपूर्व और अनुपम है।

अप्पय दीक्षित के नाम

दीक्षित तीन नामों से प्रसिद्ध हैं: —

(१) अप्पय
(२) अप्पय्य
(३) अप्प

कुवलयानन्द के उपसंहार वाक्य में[1] उन्होंने अपने नाम के लिए 'अप्प' रूप का प्रयोग किया है। रसगंगाधर में पण्डितराज जगन्नाथ 'अप्पय' और 'अप्पय्य' इन दोनों रूपों का प्रयोग करते हैं।[2] चित्रमीमांसाखण्डन के प्रस्तावना पद्य में पण्डितराज ने अप्पय्य रूप का प्रयोग किया है।[3] संस्कृत साहित्य में

---

१. कुवलयानन्द, पृ० ३०४

अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पदीक्षितः।
नियोगाद् वेङ्कटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः॥

२. रसगङ्गाधर, पृ० १४ और २२०

३. चित्रमीमांसाखण्डन प्रस्तावना,—पद्य ३

सूक्ष्मं विभाव्य मयका समुदीरितानां—
मप्पय्यदीक्षितकृताविह दूषणानाम्।
निर्मत्सरो यदि समुद्धरणं विदध्या—
दस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

'अप्पय' और 'अप्पय्य' दोनों रूप प्रचलित हैं। अप्पयवंशीय महालिङ्ग शास्त्री के संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना में हमें 'अप्पय' और 'अप्पय्य' दोनों रूप मिलते हैं।[1]

अप्पय दीक्षित का समय

अप्पय दीक्षित कब हुए ? इस प्रश्न के विवेचन में हम केवल सामान्यतः उनका कालनिर्धारण कर सकते हैं, विशेष तिथि का निर्धारण करना सम्भव नहीं है। क्योंकि जैसा डॉक्टर राघवन ने[2] कहा है, एक ही परिवार की तीन पीढ़ियों में अप्पय नाम के तीन व्यक्ति हुए हैं। कौन सा प्रमाण किस अप्पय का काल निर्धारण करता है, यह जानना कोई सुगम कार्य नहीं है।

तो भी विद्वानों ने, इस दिशा में, स्पृहणीय प्रयास किये हैं। हुल्श ने[3] अप्पय को शिवादित्यमणिदीपिका से एक अवतरण उद्धृत करके यह सिद्ध किया है कि इस ग्रन्थ की रचना के लिए अप्पय दीक्षित को वेलूर के राजा चिन्नबोम्म से प्रेरणा मिली थी। चिन्नबोम्म ऐतिहासिक व्यक्ति हुए हैं। वे चिन्नवीर के पुत्र थे। लिंगम नायक उनका पुत्र था। उनके ई० १५४९ और ई० १५६६ के लेख[4] मिलते हैं। कुवलयानन्द के उपसंहार वाक्य[5] से स्पष्ट है कि अप्पय ने राजा वेङ्कट के आदेश से कुवलयानन्द की रचना की थी। यह वेङ्कट चिन्नकोंडा के

---

१. कौण्डिन्य प्रहसन, पृ० १

कुले महत्यप्पयदीक्षितानां
श्रीत्यागराजाध्वरिणां प्रपौत्रः।

शृङ्गार नारदीय, पृ० ४

यस्याभिजात्यं हि कुलेऽप्पयाख्य-
मरवीश्वराणां प्रभवेण सिद्धम्।

प्रतिराजसूय, पृ० ४

कुले महत्यप्पयदीक्षितानां
वाग्देवतानित्यविहारभूमौ।

इन तीन नाटकों में महालिङ्ग शास्त्री ने 'अप्पय' रूप का प्रयोग किया है, किन्तु उद्गातृदशानन (पृ० २) और उभयरूपक (पृ० २) में वे अप्पय्य रूप का प्रयोग करते हैं।

२. प्रोसीडिंग ऑफ् दि टेन्थ सेशन ऑफ् ऑल इण्डिया ओरियंटल कान्फ्रेंस, पृ० १७६-१८०

३. साउथ इण्डियन मैनुस्क्रिप्ट रिपोर्ट, भाग २, पृ० ९०-१००

४. साउथ इण्डियन इनस्क्रिप्शन्स, भाग १, पृ० ६९, ८४

५. कुवलयानन्द, पृ० ३०४

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

नरेश ही हो सकते हैं, जो इतिहास में वेङ्कट प्रथम के नाम से प्रसिद्ध हैं और जिनके शिलालेखों की तिथि[1] शक १४७१-१४८८ (ई० १५८६-१६१३) है। इन प्रमाणों के आधार पर अप्पय का समय ईसा की सोलहवीं शती उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है। अब क्योंकि अप्पय ने चिन्नबोम्म और वेङ्कट का उल्लेख किया है और अप्पय दीर्घायु भी थे[2], इसलिए सम्भव है कि वे ईसा की सोलहवीं शती के मध्यभाग से लेकर ईसा की सत्रहवीं शती के प्रथम चरण तक के समय में जीवित रहे हों, किन्तु उनका रचनाकाल ईसा की सोलहवीं शती का मध्य भाग ही हो सकता है।

इस काल की पुष्टि अन्य स्रोतों से भी हो जाती है। ईसा की सत्रहवीं शती के प्रथम चरण में आचार्य मम्मट की कृति काव्यप्रकाश की कमलाकरी टीका के टीकाकार कमलाकर भट्ट अप्पय का उल्लेख करते हैं।[3] इसी काल में पण्डितराज जगन्नाथ ने[4] अप्पय की चित्रमीमांसा का खण्डन किया है। ईसा की सत्रहवीं शती के मध्यभाग में अप्पय के भ्रातृपौत्र नीलकण्ठ दीक्षित ने चित्रमीमांसाधिक्कार की रचना करके पण्डितराज जगन्नाथ के चित्रमीमांसा खण्डन का उत्तर दिया है। इन तथ्यों की संगति के लिए अप्पय को ईसा की सोलहवीं शती के अन्तिम चरण में रखना ही उचित होगा।

चिन्नबोम्म के साथ अप्पय के घनिष्ठ सम्बन्ध थे, यहाँ तक कि अप्पय ने अपनी रचना 'प्राकृतमणिदीप' को चिन्नबोम्म की कृति के रूप में घोषित किया है,[5] यद्यपि इस ग्रन्थ के उपसंहार में उन्होंने स्वयं को ही इस कृति का कर्त्ता माना है। इन सूत्रों से अप्पय दीक्षित का चिन्नबोम्म समकालीन होना सिद्ध हो जाता है।

---

१. (क) ई० आई, भाग ३, पृ० २३८
   (ख) फ्रेंच विद्वान रेंजो (Regnand) ने 'ल रेतोरीके सांस्क्रीत' पृ० ३७५ पर अप्पय दीक्षित को विजयनगर के कृष्णराज (१५२० ई०) का सम सामयिक माना है- जो भ्रान्ति है।

२. अप्पय दीक्षित ७२ वर्ष तक जीवित रहे। देखिए—नीलकण्ठ: शिवलीलार्णव, सर्ग १

३. काने: संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० २२३

४. पण्डितराज जगन्नाथ मुगल बादशाह शाहजहाँ के सभा पण्डित थे। उनका समय ईसा की सत्रहवीं शती के प्रथम चरण से आरम्भ होता है।

५. कुप्पुस्वामी शास्त्री: ट्रिनियल केटालाग, पृ० ६३०२। इसमें प्राकृतमणिदीप के सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री मिलती है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

गङ्गाधर वाजपेयी ने कुवलयानन्द पर रसिकरञ्जनी नाम की टीका लिखी है। ये गङ्गाधर वाजपेयी तञ्जौर नरेश शाह जी (ई० १६८४-१७११) के आश्रित थे। इन्होंने अप्पय को अपने पितामह के भाई का गुरु कहा है।[1] इसका अर्थ यह हुआ कि अप्पय और गङ्गाधर के मध्य तीन पीढ़ियों का अन्तर था और यह भी स्मरणीय है कि अप्पय दीर्घायु थे। इस प्रमाण के आधार पर भी हम अप्पय को ईसा की सोलहवीं शती के अन्तिम चरण से लेकर ईसा की सत्रहवीं शती के प्रथम चरण तक के काल में रख सकते हैं।[2]

अप्पय दीक्षित की कृतियाँ

अप्पय दीक्षित के भ्रातृपौत्र नीलकण्ठ दीक्षित ने "शिवलीलार्णव" में लिखा है कि अप्पय दीक्षित बहत्तर वर्ष की आयु तक जीवित रहे और उन्होंने सौ ग्रन्थों का निर्माण किया।[3] नीलकण्ठ दीक्षित ईसा की सत्रहवीं शती के मध्य भाग में हुए हैं। शिवलीलार्णव में वे स्वयं को अप्पय दीक्षित के अनुज अच्चन दीक्षित का पौत्र कहते हैं। उन्होंने चित्रमीमांसाखण्डनधिक्कार की रचना करके पण्डितराज जगन्नाथ के चित्रमीमांसाखण्डन का उत्तर भी दिया है। अप्पय दीक्षित और नीलकण्ठ दीक्षित के मध्य एक ही पीढ़ी का अन्तर है। अतः, इनका यह कथन कि अप्पय दीक्षित ने सौ ग्रन्थों की रचना की—प्रामाणिक ही समझना चाहिए।

किन्तु, अप्पय दीक्षित की बहुत कम कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं और बहुत कम प्रकाशित हैं। हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रकाशित सूचियों में किन्हीं के नाम और किन्हीं के उद्धरण भी मिलते हैं। उपलब्ध सामग्री के आधार पर विद्वानों ने अप्पय दीक्षित की कृतियों का विषयानुसार वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

---

१. देखिए, रसिकरञ्जनी: 'अस्मत्पितामहसहोदरदेशिकेन्द्र'—

२. इन प्रमाणों के आधार पर आफ्रेक्ट का यह विचार कि अप्पय दीक्षित विजयनगर के वेङ्कट नरेश (ई० १५३५) के समकालीन थे—निरस्त हो जाता है। महालिङ्ग शास्त्री द्वारा प्रस्तावित अप्पय दीक्षित की जन्मतिथि (ई० १५५४) भी डॉ० काने को स्वीकृत नहीं है। दे० काने: संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० २४८

३. शिवलीलार्णव १.६ द्वासप्तति प्राप्य समाः प्रबन्धाञ्छतं व्यधादप्पयदीक्षितेन्द्रः।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(क) अद्वैत वेदान्त पर

(१) श्रीपरिमल
(२) सिद्धान्तलेश संग्रह
(३) नक्षत्रवादावली (वेदान्त)
(४) मध्वतन्त्रमुखमर्दन
(५) मध्वमतविध्वंसन
(६) न्यायरक्षामणि

(ख) रामानुज मत पर

(१) नयनमयूखमालिका व्याख्यासहित
(२) श्री वेदान्तदेशिक विरचित यादवाभ्युदय की व्याख्या
(३) वेदान्तदेशिक विरचित पादुकासहस्र की व्याख्या
(४) वरदराजस्तव

(ग) माध्वसिद्धान्त पर

(१) न्यायरत्नमाला व्याख्यासहित

(घ) भक्ति पर

(१) शिखरिणी माला
(२) शिवतत्त्वविवेक
(३) ब्रह्मतर्कस्तव
(४) आदित्यस्तवरत्न व्याख्यासहित
(५) शिवाद्वैतविनिर्णय
(६) शिवध्यान पद्धति
(७) पञ्चरत्न व्याख्या सहित
(८) आत्मार्पण
(९) मानसोल्लास
(१०) शिवकर्णामृत
(११) आनन्दलहरी चन्द्रिका
(१२) शिवमहिमकलिकास्तुति
(१३) रत्नत्रयपरीक्षा व्याख्यासहित

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(१४) अरुणाचलेश्वर स्तुति
(१५) अपीतकुचाम्बास्तव
(१६) चन्द्रकलास्तव
(१७) शिवार्कमणिदीपिका
(१८) शिवपूजा विधि
(१९) नयमणिमाला व्याख्यासहित

(च) पूर्वमीमांसा पर

(१) नक्षत्रवादावली
(२) विधिरसायन

(छ) व्याकरण पर

(१) नक्षत्रवादावली[1]

(ज) काव्यशास्त्र पर

(१) वृत्तिवार्तिक
(२) चित्रमीमांसा
(६) कुवलयानन्द

यह सूची अपूर्ण है। इसमें काव्यशास्त्र पर लक्षण रत्नावली[2] और प्राकृत व्याकरण पर प्राकृतमणिदीपिका[3] जैसे कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के नाम नहीं हैं।

कृतियों की अन्तर्वस्तु के अवलोकन से विदित होता है कि दीक्षित का साहित्यिक क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था और वे मीमांसा, वेदान्त, भक्ति और काव्य शास्त्र के उच्च विद्वान थे। संस्कृत व्याकरण पर नक्षत्रवादावली और प्राकृत व्याकरण पर प्राकृतमणिदीप का कर्तृत्व भी इनको प्राप्त है।

---

१. इस ग्रन्थ का प्रकाशन कुम्भकोणम् से हुआ है। यह व्याकरण शास्त्र के कतिपय महत्त्व-पूर्ण विषयों का शास्त्रीयविवेचन प्रस्तुत करता है।

२. ज० ओ० रि० मद्रास, भाग ४, पृ० २४२-२४४

३. भोलाशंकर व्यास ने ग्रन्थ सूची में यह नाम नहीं दिया है। इसका कुछ अंश ग्रन्थ प्रदर्शनी में छपा है। दे० ग्र० सं० ३, ५, ६, ८-१०, १३। यह पुस्तक मैसूर संस्कृत सिरीज में प्रकाशित है। इसके विषय और महत्त्व के लिए द्रष्टव्य 'प्राकृत प्रकाश' की भूमिका बलदेव उपाध्याय रचित (प्रकाशक संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७२)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

दर्शन शास्त्र में इनकी विशेष रुचि थी। इनकी अधिकतर कृतियों का विषय मीमांसा, वेदान्त और भक्ति है। तो भी इनकी अलौकिक प्रतिभा का मूल्यांकन इनकी काव्यशास्त्रीय कृतियों से ही होता है।

संस्कृत साहित्य में इनकी ख्याति काव्यशास्त्रीय कृतियों पर निर्भर करती है। ये कृतियाँ वृत्तिवार्तिक, चित्रमीमांसा और कुवलयानन्द नामों से प्रकाशित हैं। काव्यशास्त्र का एक अन्य ग्रन्थ लक्षणरत्नावली भी इनकी कृति है। इसमें इन्होंने नान्दी, सूत्रधार, पूर्वरङ्ग, प्रस्तावना आदि नाटक के परिभाषिक शब्दों की व्याख्या की है। यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है।

वृत्तिवार्तिक

काव्यशास्त्र के इतिहास में वृत्तिवार्तिक का महान् गौरव है। इस कृति में दो परिच्छेद हैं। इनमें अभिधा और लक्षणा वृत्तियों का विशद विवेचन हुआ है। इस दिशा में दीक्षित मीमांसकों के उपजीव्य हैं। जिन्होंने अभिधावृत्ति के दीर्घदीर्घतर व्यापार को मानकर व्यञ्जना वृत्ति का खण्डन किया है।

वृत्तिवार्तिक अपूर्ण प्रतीत होती है। इसमें अभिधा और लक्षणा वृत्तियों पर विचार करने के उपरान्त व्यञ्जना पर विचार करना अपेक्षित था। इस कृति के प्रस्तावना भाग में तीनों वृत्तियों पर विचार करने का संकेत भी मिलता है।[1] तब दीक्षित ने केवल अभिधा और लक्षणा वृत्तियों का ही विवेचन क्यों किया? व्यञ्जना का क्यों नहीं किया? यद्यपि अभिधा के विवेचन में व्यञ्जना की अस्वीकृति के संकेत मिलते हैं तो भी व्यञ्जना पर पृथक् विचार करना आवश्यक था। इससे दीक्षित के व्यञ्जना सम्बन्धी विचार अधिक स्पष्ट हो सकते थे।

चित्रमीमांसा

चित्रमीमांसा अपने ही प्रकार का एक अनूठा ग्रन्थ है। इसमें

(१) उपमा	(२) उपमेयोपमा
(३) अनन्वय	(४) स्मरण

---

१. वृत्तिवार्तिक, पृ० १

वृत्तयः काव्यसरणावलंकारप्रबन्धृभिः।
अभिधालक्षणाव्यक्तिरिति तिस्रो निरूपिताः।
तत्र क्वचित्क्वचिद्वृद्धैर्विशेषानस्फुटीकृतान्।
निष्टंकयितुमस्माभिः क्रियते वृत्तिवार्तिकम्॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(५) रूपक	(६) परिणाम
(७) सन्देह	(८) भ्रान्तिमान्
(९) उल्लेख	(१०) अपह्नुति
(११) उत्प्रेक्षा	(१२) अतिशयोक्ति

इन बारह अलंकारों को लेकर अर्थचित्र काव्य का विवेचन हुआ है। यह ग्रन्थ भी अपूर्ण है। यह तथ्य इस ग्रन्थ के अन्तिम पद्य से ही स्पष्ट हो जाता है-

अप्पर्यचित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला।
अनूरुरिव धर्मांशोरर्धेन्दुरिव धूर्जटेः ॥

किन्तु, कुवलयानन्द से प्रतीत होता है कि चित्रमीमांसा का और भी अधिक भाग रहा होगा, क्योंकि वहाँ श्लेषालंकार के अन्त में[1] लिखा है "एतद्विवेचनन्तु चित्रमीमांसायां द्रष्टव्यम्।" इससे व्यक्त होता है कि चित्रमीमांसा में श्लेष अलंकार का भी विवेचन था जोकि उपलब्ध प्रकाशित पुस्तकों में नहीं है। इस प्रसंग में कुवलयानन्द के व्याख्याकार वैद्यनाथ लिखते हैं: "यद्यप्युत्प्रेक्षानन्तरं चित्रमीमांसा न क्वापि दृश्यते।" इससे सिद्ध होता है कि वैद्यनाथ के समय चित्रमीमांसा उत्प्रेक्षा अलंकार तक ही उपलब्ध थी और उसमें अतिशयोक्ति अलंकार नहीं था जो कि अब प्रकाशित पुस्तकों में मिलता है।

इसके विपरीत, चित्रमीमांसा के उत्प्रेक्षा प्रकरण में दीक्षित ने कहा है: "अधिकं निदर्शनालंकारप्रकरणे चिन्तयिष्यते।[2] "प्रकारान्तरेणापि कतिचिदस्या भेदान् समासोक्तिप्रकरणे दर्शयिष्यामः"।[3] "अन्यदत्र विचारणीयं समासोक्ति प्रकरणे विचारयिष्यते।[4] "इन संकेतों से सिद्ध होता है कि चित्रमीमांसा में अतिशयोक्ति के पश्चाद् और भी अलंकार थे अथवा दीक्षित उनकी विवेचना करना चाहते थे।

सम्प्रति, चित्रमीमांसा पर तीन टीकाएँ हैं:

(१) धरानन्द की सुधा,
(२) बालकृष्ण पायगुण्ड की गूढ़ार्थ प्रकाशिका और
(३) चित्रालोक जिसका कर्तृत्व ज्ञात नहीं है।

---

१. कुवलयानन्द, पृ० १०५
२. चित्रमीमांसा, पृ० ३१६
३. वही, पृ० ३०६
४. वही, पृ० ३१३

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कुवलयानन्द

काव्यशास्त्र पर दीक्षित की तीसरी कृति कुवलयानन्द है। यह ग्रन्थ अलंकारों की दृष्टि से सर्वथा परिपूर्ण है। किन्तु, इसके अधिकांश अलंकारों के लक्ष्य और लक्षण पीयूषवर्ष जयदेव के चन्द्रालोक से लिये गये हैं।[1] और जो दीक्षित के अपने विचार हैं उन सबका पण्डितराज जगन्नाथ ने खण्डन कर दिया है।

कुवलयानन्द की प्रसिद्धि का प्रबल प्रमाण इसकी दस टीकाएँ हैं। इनमें से तीन प्रकाशित हो चुकी हैं: (१) रसिकरञ्जनी—इसके कर्ता गङ्गाधर वाजपेयी थे जो गङ्गाधराध्वरी से प्रसिद्ध हुए हैं। इन्होंने अप्पय दीक्षित को अपने पितामह के भाई का गुरु कहा है—अस्मत्पितामहसहोदरदेशिकेन्द्र। ये गङ्गाधर तञ्जौर के राजा शाह जी (१६८४-१७११) के आश्रित थे। यह टीका हालास्य नाथ की टिप्पणी के साथ कुम्भकोणम् से सन् १८१२ में प्रकाशित हुई है।

(२) अलंकार चन्द्रिका—इसके कर्त्ता वैद्यनाथ तत्सत् थे।

(३) अलंकार दीपिका—इसके कर्त्ता पण्डित आशाधर थे। यह टीका केवल कारिका भाग पर है, वृत्ति और उदाहरणों पर नहीं। अन्य सात टीकाएँ—

(४-५) नागोजीभट्ट कृत अलंकारसुधा और विषमपद व्याख्यान

(६) न्यायवागीश भट्टाचार्य कृत काव्यमञ्जरी।

(७) मथुरानाथ कृत टीका।

(८) कुरवीराम कृत टिप्पण।

(९) देवीदत्त कृत लघ्वलंकारचन्द्रिका।

(१०) वेङ्कलसूरि कृत बुधरञ्जनी—अभी तक अप्रकाशित हैं।

नक्षत्रवादावली और प्राकृतमणिदीप

इन दोनों कृतियों का विषय व्याकरण है। नक्षत्रवादावली अभी तक प्रकाशित नहीं हुई। प्राकृतमणिदीप के कुछ अंश ग्रन्थ प्रदर्शनी में प्रकाशित हुए हैं।[2]

---

१. कुवलयानन्द, पृ० २

येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः।
प्रायास्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते॥

२. ग्रन्थ प्रदर्शनी, संख्या ३, ५, ६, ८-१०, १३ सम्पूर्ण ग्रन्थ मैसूर से प्रकाशित हुआ है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

प्राकृतमणिदीप दीक्षित की रचना है यह स्वीकार करने में कुछ बाधाएँ उपस्थित होती हैं। इसके प्रारम्भिक पद्यों में चिन्नबोम्म को इसका रचयिता कहा गया है। ये चिन्नबोम्म वेलूर के राजा थे।[1] उन्होंने त्रिविक्रमदेव, हेमचन्द्र लक्ष्मीधर, भोज, पुष्पवननाथ, वररुचि और अप्पयज्व की प्राकृत व्याकरण सम्बन्धी कृतियों को विस्तृत होने के कारण साधारण जन द्वारा अनुपादेय समझ कर उनके आधार पर इस संक्षिप्त ग्रन्थ की रचना की।[2] इस कथन से व्यक्त होता है कि प्राकृत व्याकरण पर अप्पय दीक्षित की कोई वृहद् रचना थी, जिसके आधार पर बोम्मभूप ने प्राकृतमणिदीप का निर्माण किया। किन्तु इस कृति के उपसंहार वाक्य से विदित होता है कि यह दीक्षित की ही रचना है। भट्टनाथ स्वामी का विचार है कि क्योंकि अभी तक दीक्षित का कोई वृहत् प्राकृत ग्रन्थ नहीं मिला जिसको आधार मानकर चिन्नबोम्म ने प्राकृतमणिदीप की रचना की हो, यही मानना उचित होगा कि प्राकृतमणिदीप दीक्षित की रचना है, जिसके कर्तृत्व का श्रेय दीक्षित ने अपने आश्रयदाता चिन्नबोम्म को दिया, किन्तु इस कृति के उपसंहार वाक्य में उन्होंने तथ्य को प्रकट ही कर दिया। दीक्षित इसे अपनी कृति ही मानते हैं। दूसरा, संस्कृत साहित्य में आश्रयदाता के नाम से ग्रन्थ के कर्तृत्व की ख्याति होना कोई नवीन प्रसंग नहीं है। धावक कवि की रचनाएँ—प्रियदर्शिका, रत्नावली, नागानन्द—थानेश्वर के राजा हर्षवर्धन के कर्तृत्व से प्रसिद्ध हैं।

प्राकृतमणिदीप में शौरसेनी, मागधी और महाराष्ट्री प्राकृतों का, जो संस्कृत नाटकों में प्रायः पायी जाती हैं, विवेचन मिलता है। इस दिशा में दीक्षित त्रिविक्रमदेव के उपजीवी हैं।[3]

---

१. साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स्, भाग १, पृ० ६६, ६४

२. दे० ग्रन्थप्रदर्शनी में प्रकाशित प्राकृतमणिदीप के प्रारम्भिक पद्य—

"सूक्ष्मार्थं ग्राह्यतां मन्दानपि नाटकं मृदूपायः।
तस्यापि जीवितमिदं प्राकृतमप्राकृतेन यन्मिश्रम्॥
ये त्रिविक्रमभट्टेन हेमचन्द्रे चेरिताः।
लक्ष्मीधरेण ये ग्रन्था भोजेन च महीक्षिता॥
ये पुष्पवननाथेन ये वा वाररुचा अपि।
वार्तिकार्णवभाष्याद्या अप्पयज्वकृता अपि॥
ते विस्तृतत्वात्प्रायेण संक्षेपरुचिभिर्जनैः।
अगृहीता विलम्ब्यन्ते सन्ध्यार्ककिरणा इव॥

३. दे० पिशल: प्राकृत ग्रामेरियन्स्, अनु० सुभद्रझा, १६७१

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

काव्यशास्त्र में अप्पय दीक्षित का योगदान

पहले कह चुके हैं कि दीक्षित की प्रतिभा का वास्तविक मूल्यांकन उनकी काव्यशास्त्रीय कृतियों से होता है। ये कृतियाँ हैं--वृत्तिवार्तिक, चित्र-मीमांसा और कुवलयानन्द। इनमें वृत्तिवार्तिक का स्थान महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्धों पर शास्त्रीय विवेचन हुआ है। शब्द और अर्थ काव्यरचना के मूल उपकरण हैं। कोई भी काव्य चाहे वह गद्य में हो, चाहे पद्य में हो अथवा गद्य-पद्य दोनों में हो तभी सफल हो सकता है जबकि उसमें प्रयुक्त शब्द इष्टार्थ का प्रतिपादन कर सकते हों। इसीलिए काव्यशास्त्र के आचार्य सर्वप्रथम शब्द और अर्थ के आपसी सम्बन्धों पर विवेचन किया करते हैं।[१] विवेचन करना संगत भी है क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों काव्य के शरीर हैं।[२] इनके उचित संचयन पर ही काव्य की शोभा निर्भर करती है।

इस सम्बन्ध में कुछ प्रश्नों का उपस्थित होना स्वाभाविक है। जब हम 'घट' शब्द का प्रयोग करते हैं तब 'घट' शब्द, 'घट' पदार्थ का बोध कराता है, किन्तु यह विचारणीय है कि 'घट' शब्द में 'घट' पदार्थ का बोध कराने की शक्ति कैसे उत्पन्न हुई? इस विषय पर विचारकों के पृथक्-पृथक् मत हैं। नैयायिकों के अनुसार शब्द को यह शक्ति ईश्वरेच्छा से प्राप्त हुई और जो शक्ति किसी से प्राप्त होती है वह नश्वर भी होती है अतः इनके मत में शब्द अनित्य है। जब वह नष्ट हो जाता है तब उसकी शक्ति भी नष्ट हो जाती है। दूसरी ओर, मीमांसकों का विचार है कि शब्द-अर्थ का सम्बन्ध अनादि, अनन्त और स्वतः सिद्ध है। कारण, जब सृष्टि अनादि और अनन्त है तब शब्द-अर्थ का सम्बन्ध भी अनादि और अनन्त होना ही चाहिए। वेदान्त के मत में शब्द, अर्थ और शक्ति व्यावहारिक भाषा के प्रयोग हैं। परमार्थतः अनादि, अनन्त और सनातन ब्रह्म ही शब्द है। वेदान्त के अनुसार वैयाकरण भी शब्द-अर्थ सम्बन्ध को नित्य मानते हैं।

इस प्रकार शब्द-अर्थ सम्बन्धी मान्यताओं पर हम आचार्यों में मतभेद पाते हैं। नैयायिकों के अनुसार शब्द अनित्य है और उसका अर्थ के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में ईश्वरेच्छा निमित्त है। दूसरी ओर, मीमांसकों के मत में शब्द

---

१. शब्दार्थौ काव्यम्।

२. काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरमिति।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

नित्य है और उसका अर्थ के साथ सम्बन्ध अनादि और अनन्त है। किन्तु, जब हम समझ लेते हैं कि विश्व की समष्टि चेतना ही 'ईश्वर' है और ईश्वर की इच्छा का अर्थ है समष्टि चेतना की इच्छा, जिसमें व्यष्टि चेतनाओं की इच्छाएँ भी सम्मिलित हैं, तब नैयायिकों के अनुसार कहने में कि अमुक शब्द के अमुक अर्थ का प्रतिपादन करने में ईश्वरेच्छा निमित्त है या फिर मीमांसकों के अनुसार शब्द-अर्थ का सम्बध लगाने में अनादि प्रचलन को निमित्त मानने में कोई भेद उत्पन्न नहीं होता।

इस पृष्ठभूमि में दीक्षित के शब्द-अर्थ विषयक विचार स्पष्ट हो जाते हैं। वृत्तिवार्तिक के प्रारम्भिक पद्य में ही दीक्षित ने शब्द के अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना व्यापारों का निर्देश किया है। तीनों व्यापार शिव के तीन नेत्रों के समान सम्पूर्ण सृष्टि को प्रकाशित करते हैं।[१] इस दिशा में दीक्षित ने काव्य-शास्त्र की परम्परा को ही स्वीकार किया है, किन्तु परम्परा विवादग्रस्त होने के कारण अस्पष्ट हो गयी थी। वृत्तिवार्तिक में दीक्षित उसे स्पष्ट करते हैं।[२]

०००

---

१ वृत्तिवार्तिक, पृ० १

विश्वं प्रकाशयन्ती व्यापारैर्लक्षणाभिधाध्वननैः।
नयनैरिव हरमूर्तिर्विबुधोपास्या सरस्वती जयति ॥

२ वही, पृ० १

वृत्तयः काव्यसरणावलंकारप्रबन्धृभिः।
अभिधालक्षणाव्यक्तिरिति तिस्रो निरूपिताः ॥
तत्र क्वचित्क्वचिद्वृद्धैर्विशेषानस्फुटीकृतान्।
निष्टङ्कयितुमस्माभिः क्रियते वृत्तिवार्तिकम् ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वृत्तिवार्तिक

'शक्ति व अभिधा'

दीक्षित ने अभिधा का लक्षण इस प्रकार किया है :

"शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा"

"जब शब्द अपनी शक्ति द्वारा अर्थ का प्रतिपादन करता है।"

लक्षण में करणकारक 'शक्त्या' के प्रयोग पर आलोचकों ने आपत्ति की है। उनके विचार में 'शक्ति' और 'अभिधा' पर्यायवाची शब्द हैं। तब यह कहना कि जहाँ शक्ति (अभिधा) द्वारा अर्थ का प्रतिपादन हो वहाँ अभिधा होती है ठीक नहीं बैठता है।

किन्तु, इस आलोचना में कोई तथ्य नहीं है। विविध विषयावगाही मेधा-सम्पन्न दीक्षित से इस प्रकार की त्रुटि होना कदापि सम्भव नहीं है। दीक्षित को समझने के लिए काव्यशास्त्र के गहन धरातल तक पहुँचना आवश्यक है। दीक्षित के विचार में शक्ति और अभिधा पर्यायवाची शब्द नहीं हैं। तभी तो उन्होंने "शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा" कहा है। शब्द की अर्थप्रतिपत्त्यनुकूल व्यापार योग्यता शक्ति है। इस व्यापार के प्रवृत्त होने पर जो अर्थावबोध होता है वह अभिधा है। ऐसा समझ लेने पर दीक्षित के अभिधा लक्षण की संगति बैठ सकती है।

लौकिक उदाहरण द्वारा भी शब्दशक्ति और अभिधा में अन्तर का स्पष्टीकरण हो जाता है। जैसे कि काष्ठ में जलाने की शक्ति है, किन्तु उस शक्ति को 'अग्नि' की संज्ञा तभी प्राप्त होगी जब वह अपने रूप में प्रकट होकर अपने व्यापार 'ज्वलन क्रिया' में प्रवृत्त हो जायेगी।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

दूसरा प्रश्न कुछ अधिक जटिल है। जब हम कहते हैं 'अयं घटः' अर्थात् "यह घट है" तब घट शब्द में घट का अर्थ बोध कराने की शक्ति कहाँ से आती है ? 'शक्तिग्रह' पर सभी आचार्यों के अपने-अपने विचार हैं और प्रायः सभी ने संकेत और उसके प्रकारों पर बल दिया है। किन्तु, गहन विवेचन से प्रतीत होता है कि 'घट' पद में 'घट' अर्थ का बोध कराने वाली जो शक्ति है वह समष्टि चेतना से गृहीत है। तभी 'अयं घटः' कहने से सभी को 'घट' पदार्थ का बोध होने लगता है। और जिस शक्ति से वह होता है उसे हम अर्थावबोध होने के अनन्तर अभिधा कहते हैं। दूसरे शब्दों में, पदों में अर्थावबोध कराने की योग्यता को हम शक्ति कहते हैं और जब वह व्यापार में प्रवृत्त होकर अर्थावबोध कराती है तब वह अभिधा कहलाती है। वह शक्ति समष्टि चेतना का ही अंग है। 'अयं घटः' कहने के उपरान्त 'अहं घटं जानामि' यह ज्ञान प्रत्येक ज्ञाता को इसलिये हो सकता है क्योंकि उसकी ज्ञानशक्ति 'घट' शब्द में निहित है और वह उसे 'घट' शब्द के अर्थ का बोध करा सकती है।

अभिधा के भेद

शब्द के 'मुख्य' अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए शक्ति को तीन प्रकार का प्रयोग प्राप्त है। पूर्वाचार्यों ने इन प्रकारों को रूढ़ि, योग और योगरूढ़ि संज्ञा दी है। दीक्षित भी इसी परम्परा का अनुसरण करते हैं।[1] किन्तु, इनके लक्षण और उदाहरणों में कुछ वैचित्र्य अवश्य है। दीक्षित ने इनके भेद, तथा उपभेद दोनों का वर्णन कुछ विचित्र ढंग से किया है।

दीक्षित के अनुसार रूढ़ि अभिधा वहाँ होती है जहाँ कोई पद अपनी शक्ति से अपने अखण्डार्थ का बोध कराये, अवयवार्थ का नहीं।[2] अखण्डार्थ बोध कराने का तात्पर्य यह है कि (१) शब्द के अवयवार्थ का प्रतिभास ही न हो; (२) यदि अवयवार्थ का प्रतिभास हो तो उतने मात्र से प्रतिपाद्य अर्थ का बोध न हो। रूढ़ि अभिधा के इन दो प्रकारों को एक ही पद्य में उपाहृत किया गया है[3]—

यत्ते पदाम्बुरुहमम्बुरुहासनेऽप्यड्ग्यं
धन्याः प्रपद्य सकृदीश भवन्ति मुक्ताः।

---

१. वृत्तिवार्तिक, पृ० १

२. वही, पृ० १, अखण्डशक्तिमात्रेणैकार्थप्रतिपादकत्वं रूढिः।

३. वही, पृ० २

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

नित्यं तदेव भजतामतिमुक्तलक्ष्मी-
र्युक्तैव देव मणिनूपुरमौक्तिकानाम् ॥

"हे ईश । जब वे भाग्यशाली लोग ब्रह्मा से भी स्तुत्य तुम्हारे पादारविन्द की शरण में आकर तत्क्षण मुक्त हो जाते हैं, तब हे देव । तुम्हारे नूपुरों के मणि-मोती जो सदा ही तुम्हारे पादारविन्द में संलग्न हैं यदि वासन्ती लता के सौभाग्य को अथवा मुक्ति को पा जाएँ तो यह ठीक ही है ।"

यहाँ मणि, नूपुर और मौक्तिक शब्दों का रूढ़ अर्थ में प्रयोग हुआ है । वे अखण्डार्थ का ही बोध कराते हैं, अवयवार्थ का नहीं । किन्तु अतिमुक्तक शब्द से उसके समुदायार्थ–'वासन्ती' और अवयवार्थ—'अत्यन्त मुक्त' का भी बोध होता है । यहाँ दोनों अर्थ विवक्षित हैं । वक्ता का तात्पर्य है कि हे प्रभु ! जब एक बार ही तुम्हारे चरण कमल की सेवा करके भक्त जन मुक्त हो जाते हैं तब तुम्हारे नूपुरों के मणिमौक्तिक जो सदा ही तुम्हारी पद सेवा में संलग्न हैं यदि मुक्त हो जाएँ तो ठीक ही है । किन्तु मणिमौक्तिक जड़ पदार्थ हैं, उनका मुक्त होना असम्भव है । वे तो वासन्तीलता के मुकुलों की शोभा को ही प्राप्त हो सकते हैं । अतः यहाँ अतिमुक्त का समुदायार्थ-वासन्तीलता-ही ग्राह्य है । अभिधा का दूसरा प्रकार योग है । जहाँ कोई पद अवयव शक्ति के द्वारा ही समस्त पद के एक अर्थ का बोध कराता है वहाँ योग अभिधा होती है ।[1]

योग अभिधा के भी दो प्रकार हैं :

(१) जहाँ अवयव शक्ति के द्वारा अवयवार्थ का ही बोध हो, समुदायार्थ का नहीं ।

(२) जहाँ अवयवार्थ से समुदायार्थ का बोध हो, लेकिन समुदायार्थ का अवयवार्थ के साथ अन्वय न हो ।

पहले प्रकार का उदाहरण[2]

ऊर्ध्वं विरिञ्चिभवनात्तव नाभिपद्मा
द्रोमावलीपदजुषस्तमसः परस्तात् ।
मुक्तौघमण्डितमुरःस्थलमुन्मयूखं
पश्यामि देव परमं पदमेव साक्षात् ॥

---

१. वृत्तिवार्तिक; पृ० २ : अवयवशक्तिमात्रसापेक्षं पदस्यैकार्थप्रतिपादकत्वं योगः ।
२. वही, पृ० २

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

"मैं मुक्तामाला से मण्डित और रश्मियों को बिखेरते हुए तुम्हारे वक्षःस्थल को सामने देख रहा हूँ जोकि मुक्ति का परम स्थान है, जो ब्रह्मा के आवास गृहभूत तुम्हारे नाभिकमल के ऊपर स्थित है और जो तुम्हारे रोमपटलरूपी अन्धकार से परे है।"

यहाँ विरिञ्चिभवन, नाभिपद्म और रोमावली इन समस्त शब्दों की अवयवशक्ति से क्रमशः ब्रह्मा का आवास-गृह, नाभि से उत्पन्न कमल और रोमसमूह इन अवयवार्थों का बोध होता है।

दूसरे प्रकार का उदाहरण [1]

अस्तु त्रयीमय तनुस्तव लम्बनालो
रत्नैस्तथापि परिभूयत एव भानुः।
सोढः सतां बत निशान्तमुपागताना-
मेवं तिरस्कृतिकृदीश्वर कः सुवृत्तैः॥

"विष्णु के मणिहार की किरणों ने सूर्य की किरणों को जो मंद तेज कर दिया है वह उचित ही है क्योंकि रात्रि के अवसान पर सूर्य भी तो नक्षत्रों को मन्दतेज कर देता है उसके इस जघन्य कार्य को कौन सहन करेगा ?

यहाँ समस्त पद 'निशान्त' का समुदायार्थ 'गृह' लेने पर वाक्य का अर्थ होगा कि घर में आये हुए सज्जनों का निरादर करने वाले व्यक्ति के उस निकृष्ट कार्य को सुचरित पुरुष कैसे सहन करेंगे ? वैचित्र्य के आधान में निशान्त शब्द का यह समुदायार्थ भी अभिप्रेत है, किन्तु इस समुदायार्थ का निशान्त के अवयवार्थ (रात्रि का अवसान) के साथ अन्वय घटित नहीं होता। अतः यहाँ यौगिक अर्थ को ही लेना उचित है।

यह योग अभिधा के दूसरे प्रकार का उदाहरण है।

योगरूढ़ि

जहाँ समस्त पद की दोनों–अवयव और समुदाय—शक्तियों की अपेक्षा हो और दोनों सम्मिलित शक्तियों से समस्त पद के अर्थ का बोध हो वहाँ योगरूढ़ि होती है।[2] जैसे—

१. वृत्तिवार्तिक, पृ० ३
२. वही, पृ० ३, अवयवसमुदायोभयशक्तिसापेक्षमेकार्थप्रतिपादकत्वं योगरूढिः।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पक्षद्वयक्रशिमपोषविभाव्यमान-
चान्द्रायणव्रतनिषेवण एव नित्यम् ।
कुर्वन्प्रदक्षिणमुपेन्द्र सुरालयं ते
लिप्सुर्मुखाब्जरुचिमेष तपस्यतीन्दुः ॥[1]

"यह चन्द्रमा तुम्हारे मुखकमल की शोभा को पाने के लिए तपस्या कर रहा है। यह एक पक्ष में घटता है; दूसरे पक्ष में बढ़ता है; इस प्रकार चान्द्रायण व्रत [2] कर रहा है। (इस साधना की सफलता के लिए) यह सुवर्णगिरि मेरू की प्रदक्षिणा भी कर रहा है।"

कोई व्यक्ति अपनी आकांक्षा पूर्ति के लिए चन्द्रायण व्रत करता है, देव-मन्दिर की परिक्रमा करता है। यह चन्द्रमा भी नायिका के मुख-कमल की शोभा को पाने के लिए देवालय सुमेरूगिरि की परिक्रमा कर रहा है और चान्द्रायण व्रत साधे हुए है। तभी तो यह एक पक्ष में घटता है और दूसरे पक्ष में बढ़ता है।

यहाँ सुरालय पद की दोनों-अवयव और समुदाय-शक्तियां मिलकर 'सुवर्ण-गिरि मेरू' अर्थ का बोध कराती हैं। सुरालय का अवयवार्थ है–'देवताओं का आवासस्थान'। क्योंकि इस पर देवता रहते हैं। इसलिए सुरालय पद अपनी अवयव शक्ति से सुमेरू पर्वत का बोध कराता है, किन्तु अभिधान कोश के अनु-सार सुरालय पद 'मेरूगिरि' अर्थ में रूढ़ भी है। इस प्रकार यह योगरूढ़ि अभिधा है।

इस प्रसंग में दीक्षित ने कुछ नये विचार प्रस्तुत किये हैं। इनके अनुसार जब किसी वाक्य में कोई योगरूढ़ पद अपनी अवयव और समुदाय शक्तियों से किसी एक अर्थ का बोध कराता है तो फिर वहाँ उसी अर्थ में अन्य पद का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि वैसा करने से वहाँ पुनरुक्त दोष आ जाता है। इस कथन के स्पष्टीकरण में दीक्षित एक उदाहरण देते हैं:—

भद्राय भवतु भवतां
भगवान्भजमानदैन्यतिमिररविः ।

---

१. वृत्तिवार्तिक, पृ० ३

२. चान्द्रायण व्रत में एक पक्ष में प्रतिदिन एक ग्रास भोजन कम करते जाते हैं; दूसरे पक्ष में एक ग्रास अन्न बढाते जाते हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

दिवसारम्भविकस्वर–
नीरजनलिनाभिरामतरनयनः ॥[१]

"जो भक्तजनों के दैन्य रूप अन्धकार को नष्ट करने में सूर्यरूप हैं और जिनके नेत्र सूर्योदय के समय खिले हुए कमल के समान सुन्दर हैं वे भगवान आपको कल्याण दें ।"

यहाँ नीरज पद का अवयवार्थ और समुदायार्थ 'कमल' है । अतः यह योगरूढ़ पद है । इसके साथ पुनः समुदायार्थ 'नलिन' पद का प्रयोग नहीं करना चाहिए था । ऐसा करने पर यहाँ पुनरुक्त दोष आ गया है ।

किन्तु दीक्षित ने इस दोष के कुछ अपवाद भी बतलाये हैं । जब कोई योग-रूढ़ पद अपने अवयवार्थ में विश्रान्त होकर विशेषण हो जाता है तब उसे समु-दायार्थक विशेष्यभूत पर्याय पद की आकांक्षा रहती है । ऐसे स्थलों में आकांक्षा पूर्ति के लिए विशेष्य पद का रखना आवश्यक है । ऐसे स्थलों में पुनरुक्त दोष की आशंका नहीं करनी चाहिए । जैसे—

उदयन्मृगाङ्करुचिकन्दलकोमलाना–
मुन्निद्रशोणनलिनोदरसोदराणाम् ।
प्राप्तुं तवाधररुचामवलोकनेन
नालं सहस्रनयनः स वृषापि तृप्तिम् ॥[२]

"उदीयमान चन्द्रमा की किरणों की तरह कोमल और उत्फुल्ल रक्त कमल की तरह रंजित तुम्हारे अधरों की शोभा को देखते-देखते हजार नेत्रवाले इन्द्र भी तृप्त नहीं होते ।"

यहाँ सहस्रनयन 'पद' अर्थ में रूढ़ है । 'हजार आँख वाला' इस अर्थ में यौगिक है । किन्तु जब यह पद 'हजार आँख वाला' इस अवयवार्थ में विश्रान्त हो जाता है तब समुदायार्थक 'इन्द्र' अर्थ का बोध नहीं करा सकता । तभी यहाँ कवि ने 'सहस्रनयनः' कहकर समुदायार्थक इन्द्र पर्यायवाची 'वृषा' पद का प्रयोग किया है । यहाँ अवयवार्थ विशेषण है, समुदायार्थ विशेष्य है । दोनों पदों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं । अतः पुनरुक्त दोष नहीं आता ।

१. वृत्तिवार्तिक, पृ० ४
२. वही, पृ० ४

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

इसी प्रसंग में दीक्षित ने कुमारसम्भव का भी एक पद्य प्रस्तुत किया है—

तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि
सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा ।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणे-
र्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ॥[१]

"कोमल कुसुमों के आयुध से सन्नद्ध भी मैं केवल मित्र वसन्त की सहायता से पिनाक धनुषधारी शिव के भी धैर्य का विनाश कर सकता हूँ । अन्य धनुषधारी मेरे सामने क्या हैं ?"

यहाँ 'पिनाकपाणि' पद योगरूढ़ है । इसका अवयवार्थ है : पिनाक धनुष को हाथ में लिए हुए, समुदायार्थ है शिव । किन्तु योगरुढ़ होने पर भी यह पद अवयवार्थ में ही विश्रान्त हो गया है । कवि का अभिप्राय है कि जो इतने सामर्थ्यशाली 'पिनाक' धनुष को उठाये हुए है वह अवश्य ही महाशक्तिशाली होगा । इस तरह 'पिनाकपाणि' पद का यौगिक अर्थ हुआ 'महाशक्तिशाली' । इस अर्थ में नियन्त्रित होकर यह पद विशेषण भर रह गया है, विशेष्य 'शिव' अर्थ का बोध कराने में असमर्थ है । तब यहाँ 'शिव' अर्थ का बोध कराने के लिए समुदायार्थक रूढ़पद 'हर' का प्रयोग करने से पुनरुक्त दोष नहीं आता ।

किन्तु कहीं योगरूढ़पद अवयवार्थ में ही विश्रान्त होकर विशेषण हो जाता है और तब वह विशेष्य रूढ़ पद पर की आकांक्षा रखता है । ऐसे स्थलों में कवि कभी विशेष्य पद का प्रयोग करते हैं, कभी नहीं करते । जैसे कालिदास के कुमारसम्भव से उद्धृत उक्त पद्य में 'कुसुमायुध' पद 'पुष्प आयुधवाला' इस अवयवार्थ में ही विश्रान्त हो गया है । इस अर्थ में यह पद विशेषण है । 'कृ' धातु के विधिलिंग उत्तम पुरुष 'कुर्याम्' के प्रयोग से आक्षिप्त 'अहम्' पद इसका विशेष्य है जो कि इस पद्य में उपात्त नहीं है । ऐसे प्रसंगों में दीक्षित समुदायार्थक विशेष्य पद का उपादान आवश्यक नहीं समझते हैं ।

इसी तरह

मन्ये निजस्खलनदोषमवर्जनीय-
मन्यस्य मूर्ध्नि विनिवेश्य बहिर्बुभूषुः ।

१. कुमारसम्भव, ३–१०

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

आविश्य देव रसनानि महाकवीनां
देवीं गिरामपि तव स्तवमातनोति ॥[१]

"मैं तो समझता हूं कि वाग्देवी सरस्वती आपकी स्तुति इसलिये नहीं करती कि उसे अपनी अक्षमता का बोध है। तभी तो वह महाकवियों की जिह्वा में प्रविष्ट होकर उस माध्यम से आपकी स्तुति करती है ताकि त्रुटि होने पर दोष उन पर ही पड़े।"

यहाँ "गिरां देवी" इन दो पदों से समुदायार्थवाची 'सरस्वती' पद का बोध होता है। वाग्देवी सरस्वती को सहज नहीं है कि उसकी कोई निन्दा हो। दोनों पद-गिरां देवी-इस अर्थ के उपकारक हैं। जब वाग्देवी को भी आपकी स्तुति के लिए पूरा सामर्थ्य प्राप्त नहीं है तब कोई अन्य कैसे समर्थ होगा ? यहाँ 'गिरांदेवी' विशेषण होकर विशेष्य सरस्वती की आकांक्षा रखता है।

इसी प्रकार

नरसिंह महीपाल कीर्तिस्त्रिपथगा तव ।
न कस्य भवति श्लाघ्या पुनाना भुवनत्रयम् ॥[२]

"हे नरसिंह नरेश ! तीनों लोकों में व्याप्त तुम्हारा यह यश तीनों लोकों को प्रकाशित कर रहा है। उसकी प्रशंसा कौन नहीं करेगा ? तीनों भवनों में बहने वाली, तीनों भवनों को पवित्र करने वाली गंगा की प्रशंसा कौन नहीं करता है ?"

यहाँ त्रिपथगा पद जोकि कीर्ति का विशेषण है, अवयव शक्ति से 'तीनों भुवनों में व्याप्त' इस अर्थ का बोध कराता है। इस अर्थ में त्रिपथगा, कीर्ति-ये दोनों पद विशेष्य–विशेषण सम्बन्ध से चरितार्थ हैं। किन्तु 'त्रिपथगा' पद गंगा में रूढ़ है। जब वह अवयव शक्ति से 'तीनों भुवनों में बहने वाली' इस अर्थ का बोध कराता है तब यह विशेषण होकर अपने समुदायार्थक गंगा पद की आकांक्षा रखता है। जिसकी पूर्ति इस पद में नहीं हुई।

उक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब योगरूढ़ पद की शक्ति अवयवार्थ में नियन्त्रित हो जाती है तब इष्ट अर्थ का बोध कराने के लिए

१. वृत्तिवार्तिक, पृ० ४–५
२. वही ; पृ० ५

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कवि कभी समुदायार्थवाची रूढ़ पद का प्रयोग करता है, कभी नहीं करता है, कभी-कभी योगरूढ़ पद समुदायार्थ का ही बोध कराता है, अवयवार्थ का नहीं। जैसे—

उल्लासयत्युदरबन्धनिबद्धदिव्य-
शोणाश्मरश्मिकलिकावलिरच्युतेषा।
आगाम्यनेकशतकल्पविधातृगर्भ-
नाभ्युद्गताम्बुरुहकुड्मलपंक्तिशोभाम्॥[1]

"आपके वक्षः स्थल में यह जो अद्भुत लाल मणि लटक रही है इसकी कोमल किरणें, आगामी अनेक कल्पों में, आपकी नाभि में होने वाले ब्रह्मा के आवासभवन कमल की शोभा को प्रकट कर रही हैं।

यहाँ 'अम्बुरुह' पद 'कमल' अर्थ में रूढ़ है, अवयवार्थ से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कभी-कभी योगरूढ़ पद की शक्ति अवयवार्थ में ही नियन्त्रित हो जाती है। जैसे—

कह्लारकैरवमुखेष्वपि पङ्कजेषु
लोकेश यत्कमलमेव तथा प्रसिद्धम्।
मन्येऽभिजात भवदास्यतुलास्य नेति
मर्मप्रकाशनमिदं विधिनैव क्लृप्तम्॥[2]

"लोकेश! कह्लार, कैरव आदि पंकजात जलज वर्ग में, सौन्दर्य में, कमल ही प्रसिद्ध है। हे कुलीन! मेरे विचार में (उसे कीचड़ में जन्म देकर) स्रष्टा ने इस रहस्य को प्रकट किया है कि तुम्हारे मुख की तुलना में यह नहीं ठहर सकता।"

यहाँ पंकज पद अपने अवयवार्थ का ही वोधक है, समुदायार्थ का नहीं। किन्तु नैयायिकों के मत में पंकज पद न अपनी अवयव शक्ति से और न अपनी समुदाय शक्ति से कमल अर्थ का बोध कराता है। इससे 'कीचड़ में उत्पन्न होने वाला' इस अवयवार्थ की ही प्रतीति होती है, कमल की नहीं। यदि 'पंकज' पद से समुदायार्थक 'कमल' का बोध कराना हो तो यहाँ लक्षणा करनी होगी। नैयायिकों के इस विचार से दीक्षित सहमत नहीं हैं। दीक्षित के मत में ऐसे

१. वृत्तिवार्तिक, पृ० ५
२. वही; पृ० ६

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

स्थलों में लक्षणा तभी सम्भव है जब उस पद के वाच्यार्थ का वाक्यगत अन्य पदों के वाच्यार्थ के साथ अन्वय न बनता हो। प्रस्तुत पद्य में पंकज पद का वाच्यार्थ अन्य पदों के वाच्यार्थ के साथ अन्वित हो जाता है। अतः यह लक्षणा का विषय नहीं है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि कहीं पद की अवयव शक्ति से, कहीं समुदाय शक्ति से और कहीं उभय शक्ति से अर्थ का बोध होता है। पद की इन तीन शक्तियों के नाम योग, रूढ़ और योगरूढ़ हैं. किन्तु द्व्यर्थक पद की समस्या कुछ पृथक् ही है। द्व्यर्थक पद का प्रयोग होने पर कभी (१) दोनों अर्थ प्राकरणिक होते हैं, कभी (२) दोनों अर्थ अप्राकरणिक होते हैं. और कभी (३) एक अर्थ प्राकरणिक और दूसरा अप्राकरणिक होता है। पहली दोनों स्थितियों में दोनों प्राकरणिक व दोनों अप्राकरणिक अर्थों की प्रतीति अभिधा वृत्ति से होती है। इस पर काव्यशास्त्रियों में मतभेद नहीं है, किन्तु तीसरी स्थिति में जहाँ पद का एक अर्थ प्राकरणिक है, दूसरा अप्राकरणिक है, गहरा मतभेद है। वहाँ ध्वनिवादी प्राकरणिक अर्थ को वाच्य और अप्राकरणिक अर्थ को व्यंग्य मानते हैं। उनके अनुसार अभिधा शक्ति प्राकरणिक अर्थ का बोध कराकर विश्रान्त हो जाती है। फिर अप्राकरणिक अर्थ का बोध शब्द-शक्तिमूलक ध्वनि से होता है।

किन्तु दीक्षित इस विचार से सहमत नहीं हैं। वृत्तिवार्तिक में[1] ध्वनिवादियों के मत का खण्डन करते हुए उन्होंने इस विचार की स्थापना की है कि ऐसे स्थलों में प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थ वाच्य हैं। उनमें जो परस्पर सम्बन्ध स्थापित करता है वह अलंकार ही व्यंग्य होता है।

प्रस्तुत विषय का विश्लेषण करने से पहले द्व्यर्थक शब्द की पूर्वोक्त तीन स्थितियों को उदाहरणों द्वारा समझ लेना चाहिए। पहली स्थिति में जहाँ श्लिष्ट पदों के दोनों अर्थ प्राकरणिक हैं—

> येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
> यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत्।
> यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
> पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥[2]

---

१. वृत्तिवार्तिक पृ० १०, यत्र तु अनेकशक्तस्य शब्दस्य अभिधा नियामकत्वम् अनेकत्र अविशिष्टम् अर्थे तत्र नान्यतरस्मिन्नभिधा नियम्यते।

२. वही ; पृ० १०

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यहाँ शिव और विष्णु दोनों की स्तुति विवक्षित है। (शिव के प्रसंग में) उमापति (उमा-धवः) शिव सदा आपकी रक्षा करें, जिन्होंने काम को नष्ट किया, त्रिपुरीदाह में विष्णु के शरीर को अस्त्र बनाया, नागराज शेष जिनका आभूषण हैं, जो सिर पर गंगा और मस्तक पर चन्द्रमा को धारण किये हैं, जिन्होंने अन्धक असुर को मारा और जिनकी 'हर' नाम से देवता स्तुति करते हैं।

(विष्णु के प्रसंग में—) लक्ष्मीपति (माधवः) विष्णु आपकी रक्षा करें, जो जन्मरहित (अभवः) हैं, जिन्होंने असुर शकट को मारा (अनः ध्वस्तम्) बलि को जीता, मोहनी रूप लिया, दुष्टो का संहार करने के लिए सुदर्शन चक्र को धारण किया, गोवर्धन पर्वत को उठाया, पृथ्वी का उद्धार किया, राहु के सिर को काटा, अन्धक यादवों को आश्रय (क्षय) दिया।

यहाँ श्लिष्ट पदों के प्रयोग से शिव और विष्णु दोनों की स्तुति विवक्षित है। दोनों अर्थ प्राकरणिक हैं और अभिधा द्वारा प्रतिपादित हुए हैं।

दूसरी स्थिति में, जहाँ श्लिष्ट पद के दोनों अर्थ अप्राकरणिक हैं। जैसे उक्त पद्य में, जब प्रकरण में लक्ष्मी अथवा उमा नाम की नारी के पति किसी राजा की स्तुति विवक्षित है तब शिवपरक और विष्णुपरक दोनों अर्थ अप्राकरणिक हो जाएँगे।

तीसरी स्थिति में, जहाँ श्लिष्ट पद का एक अर्थ प्राकरणिक है और दूसरा अप्राकरणिक है। जैसे किसी राजा की प्रशंसा में—

असावुदयमारूढः कान्तिमान् रक्तमण्डलः।
राजा हरति लोकस्य हृदयं मृदुभिः करैः॥[1]

(राजा के पक्ष में—) यह राजा जो पूर्णतया समृद्धि को प्राप्त है, जिसके रूप और आकार सुन्दर हैं, जिसके प्रति-बाह्य और आभ्यन्तर-दोनों प्रकृतियाँ अनुरक्त हैं, अल्प कर (शुल्क) लेकर प्रजा को प्रसन्न रखता है।

(चन्द्रमा के पक्ष में—) यह कमनीयाकृति, रक्तमण्डल, उदीयमान चन्द्रमा अपनी मृदुल किरणों से लोगों के हृदय को रंजित कर रहा है।

यहाँ एक अर्थ प्राकरणिक हैं, दूसरा अप्राकरणिक है।

१: वही, पृ० ११

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ऊपर कह चुके हैं कि तीसरी कोटि में जहाँ द्व्यर्थक पद का एक अर्थ प्राकरणिक है, दूसरा अप्राकरणिक है, वहाँ काव्यशास्त्रियों में गहरा मतभेद है। एक ओर ध्वनिवादी जिनमें आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ प्रमुख हैं, अप्राकरणिक अर्थ का बोध कराने के लिए व्यंजना का आश्रय लेते हैं। इनके मत में जब द्व्यर्थक पद का प्राकरणिक अर्थ अभिधा द्वारा नियमित हो जाता है तब जो अप्राकरणिक अर्थ शेष रह जाता है उसकी प्रतीति व्यंजना से होती है। दूसरी ओर, इस मत के सर्वथा विपरीत, अलंकारवादी पण्डित जिनमें भामह, दण्डी और दीक्षित प्रमुख हैं, अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति के लिए भी अभिधा का आश्रय लेते हैं।

दीक्षित इस बात पर दृढ़ हैं कि द्व्यर्थक पद के प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थों की प्रतीति अभिधा से होती है।[1] दोनों अर्थों का सम्बन्ध जोड़ने वाले अलंकार ही व्यंग्य हो सकते हैं।

दीक्षित के विचार में प्राचीन आचार्यों का भी यही मत था। तभी तो उन्होंने अलंकार ध्वनि को शब्दशक्तिमूलक माना है। इनके अनुसार "असावुदयमारूढः" इस पद्य में जहाँ प्रकृत राजा और अप्रकृत चन्द्रमा का उपमानोपमेयभाव विवक्षित है, दोनों अर्थ वाच्य हैं, किन्तु दोनों का परस्पर सम्बन्ध जोड़ने के लिये जो उपमानोपमेयभाव प्रत्यायक उपमा अलंकार है उसी में ध्वनि हो सकती है।[2]

सम्भवतः ध्वनिवादी आनन्दवर्धन का भी यही विचार रहा होगा। क्योंकि ध्वन्यालोक में वे लिखते हैं: "यत्र तु सामर्थ्याक्षिप्तं सदलंकारान्तरं शब्दशक्त्या प्रकाशते स एव ध्वनेर्विषयः।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्दशक्ति मूलक

१. वृत्तिवार्तिक, पृ० १५

तद्रीत्या न कथञ्चिदपि प्रकरणाप्रकरणादिनाभिधानियमनं शक्यशङ्कम्। तस्मात् प्रस्तुताप्रस्तुतोभयपरेऽपि प्रस्तुताप्रस्तुतोभयवाच्यार्थेऽभिधैव वृत्तिः।

२. वही, पृ० १७ : यत्तु प्राचामप्रस्तुते शक्तिमूलव्यंजनवृत्त्यभिधानम्, तदप्रस्तुतार्थप्रतीतिमूलके यथा—

"उदयमारूढः इत्यादिविशेषणविशिष्टः पृथिवीपतिः स्वल्पैर्ग्राह्यैर्घनैर्लोकस्य हृदयं रञ्जयति, एवं तथाभूतश्चन्द्रमा मृदुलैः किरणैः, इत्यादिरूपेण प्रतीयमाने उपमाद्यर्थालंकारे तदवश्यंभावरूढीकरणाभिप्रायेण। न तु तत्रापि वस्तुतो व्यञ्जनव्यापारास्तित्वाभिप्रायेण।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अलंकारध्वनि में प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थ वाच्य होते हैं। अप्राकरणिक अर्थ पर आश्रित अलंकार ही केवल व्यंग्य होता है।

अब यह विचारणीय है कि शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि में जहाँ कोई अलंकार नहीं होता शब्दशक्ति द्वारा प्राकरणिक अर्थ में पद का नियमन होने पर अप्रकृत अर्थ में व्यंजना को मानना ही होगा। किन्तु, यहाँ पर भी दीक्षित प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों अर्थों को वाच्य मानते हैं। अप्रस्तुत वस्तु से जो वास्त्वन्तर का बोध होता है यह अनभिधेय वस्तु में ध्वनि होती है। दीक्षित वस्तुध्वनि के उदाहरण से इस कथन को स्पष्ट करते हैं—

"शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र यस्मै त्वम् ॥[1]

"राजन्। जिससे तुम क्रोध करते हो उसे (क्रूर ग्रह) शनि और (तुम्हारा) वज्र (दोनों मिलकर) नष्ट कर देते हैं।"

यह शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि का उदाहरण है। यहाँ 'अशनि' पद का प्रस्तुत अर्थ—वज्र और अप्रस्तुत अर्थ–शनि-भिन्न, दोनों अभिधेय हैं। किन्तु अप्रस्तुत अर्थ पर आश्रित एक अन्य अर्थ— कि शनि (क्रूरग्रह) और अशनि (वज्र, जो शनि नहीं है अथवा जो शनि के विरुद्ध है) दोनों विरोधी होने पर भी एक साथ मिलकर तुम्हारा कार्य कर रहे हैं—वस्तुध्वनि का विषय है।

लक्षणा

अभिधा के बाद शब्द की दूसरी वृत्ति 'लक्षणा' पर भी दीक्षित ने कुछ नये विचार प्रकट किये हैं। जब वाक्य में कोई पद अपनी मुख्य वृत्ति द्वारा विवक्षित अर्थ का बोध नहीं करा सकता तब उसके लिये काव्यशास्त्रियों ने शब्द के एक नये व्यापार की कल्पना की है। इसे वे लक्षणा कहते हैं। लक्षणा-व्यापार शब्द के उसी अर्थ का बोध करा सकता है जिसका सम्बन्ध शब्द के मुख्य अर्थ के साथ हो। इस प्रकार शब्द के लक्ष्यार्थ का बोध कराने की शक्ति अभिधा व्यापार पर ही आश्रित है। जैसे "गङ्गायां घोषः" इस वाक्य में 'गङ्गा' पद का मुख्य अर्थ 'गङ्गा का जल प्रवाह' है, किन्तु इस अर्थ में 'गङ्गा' पद की 'घोषः' पद के साथ अन्विति नहीं बैठती, क्योंकि गङ्गा जल प्रवाह में गाँव नहीं हो सकता। तब यहाँ लक्षणा व्यापार का आश्रय लेकर गङ्गा पद अपने मुख्यार्थ 'जलप्रवाह' से सम्बद्ध गङ्गातट अर्थ को लक्षित करता है। यह अर्थ विवक्षित, अन्वित और

१. वृत्तिवार्तिक, पृ० १७

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

सप्रयोजन भी है, क्योंकि गंगातटवर्ती गाँव शीतल और पवित्र होगा। 'गङ्गा तटे घोषः' 'न कहकर' गङ्गायां घोषः' कहने का यही अभिप्राय है।

प्राचीन आचार्यों के अनुसार जो पद लाक्षणिक होने जा रहा है उसके मुख्य अर्थ का बाधित होना उसके लाक्षणिक होने का प्रथम अनुबन्ध है। जब वाक्य में पद के मुख्य अर्थ का अन्य पदों के मुख्य अर्थों के साथ अन्वय नहीं हो पाता तब उस पद के अर्थ में लक्षणा करनी पड़ती हैं। काव्य-शास्त्रियों के अनुसार मुख्यार्थ का बाध लक्षणा की अनिवार्य विशेषता हैं।[1]

किन्तु दीक्षित ने लक्षणा की परिभाषा में मुख्यार्थ बाध की अनुबन्धता को नहीं स्वीकार किया। क्योंकि अजहल्लक्षणा में मुख्यार्थ का पूर्णतः बाध नहीं होता। सम्भवतः इसीलिये दीक्षित ने लक्षणा की परिभाषा में मुख्यार्थ बाध का निवेश न करके मुख्यार्थसम्बन्ध और मुख्यार्थयोग पर बल दिया है।[2]

लक्षणा के भेद

दीक्षित के अनुसार लक्षणा के मुख्यभेद दो हैं : गौणी और शुद्धा। सादृश्य सम्बन्ध होने पर गौणी और सादृश्य से भिन्न किसी अन्य सम्बन्ध के होने पर शुद्धा कहलाती है। गौणी और शुद्धा दोनों रूढ़ि और प्रयोजन में होती हैं। दीक्षित ने रूढ़ि को निरूढ़ और प्रयोजन को फल कहा है।

(१) रूढ़िलक्षणा गौणी

लावण्यसागरभुवि प्रणयं विशेषा—
द्दुग्धाम्बुराशिदुहितुस्तव तर्कयामि।
यत्तां विभर्षि वपुषा निखिलैः प्रतीकै—
रन्यां तु केवल मधोक्षज वक्षसैव॥[3]

"विष्णु ! क्योंकि तुमने (दुग्धसागर की पुत्री) लक्ष्मी को अपने वक्षःस्थल पर ही धारण किया, किन्तु (लवणसागर की) नील सुषमा को समूचे शरीर पर धारण किया, मुझे लगता है कि तुम दुग्धसागर की पुत्री लक्ष्मी की अपेक्षा लवणसागर की नील सुषमा से विशेष प्रेम रखते हो।"

इस पद्य में लावण्य पद अभिधावृत्ति से लवणत्व अर्थ में रूढ़ है, किन्तु गुण-सादृश्य से सुषमा अर्थ को लक्षित करता है। यहाँ निरूढ़ गौणी लक्षणा है।

१. मुख्यार्थ बाधे–मम्मट, काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास, कारिका ९।
२. वृत्तिवार्तिक, पृ० १८, मुख्यार्थसम्बन्धेन शब्दस्य प्रतिपादकत्वम्।
३. वही, पृ० १९

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(२) रूढ़िलक्षणा शुद्धा

क्वणद् द्विरेफावलिनीलकङ्कणं
प्रसार्य शाखाभुजमाम्रवल्लरी ।
कृतोपगूढा कलकण्ठकूजितै—
रनामयं पृच्छति दक्षिणानिलम् ॥[1]

"यह आम्रलता गूंजते हुए भ्रमर रूपी नीले ककणों से अलंकृत शाखा-भुजाओं से दक्षिणानल का आलिंगन करती हुई, कोयल की मधुर ध्वनि से कुशल मंगल पूछ रहो है ।

यहाँ 'द्विरेफ' पद अपनी अवयव शक्ति से 'दो रेफों वाला' इस अर्थ का बोध कराता है । किन्तु यह अर्थ वाक्य में अन्वित नहीं होता । अतः दो रेफों वाले 'भ्रमर' पद का वोध कराकर उसी के निरूढ़ अर्थ में लक्षित हुआ है । सादृश्य सम्वन्ध न होने से यहाँ शुद्धा लक्षणा है ।

शुद्धारूढ़ि और गौणीरूढ़ि के पश्चाद् दीक्षित ने फललक्षणा के सात भेद किए हैं :

(१) जहल्लक्षणा शुद्धा,
(२) अजहल्लक्षणा शुद्धा,
(३) जहदजहल्लक्षणा शुद्धा,
(४) सारोपा शुद्धा,
(५) साध्यवसाना शुद्धा,
(६) सारोपा गौणी,
(७) साध्यवसाना गौणी ।

वृत्तिवार्तिक में दीक्षित ने इनके लक्षण और उदाहरण इस प्रकार दिए हैं—

(१) जहल्लक्षणा शुद्धा फलवती

"जहाँ पद अपने मुख्य अर्थ को त्याग देता है" जहल्लक्षणा की इस परि-भाषा का लक्षणा के सामान्य लक्षण से कोई विरोध नहीं है । इसमें यद्यपि पद अपने मुख्य अर्थ को त्याग देता है तो भी मुख्यार्थ सम्बन्ध को नहीं त्यागता है । जैसे—

१. वृत्तिवार्तिक, पृ० १६

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

त्वत्पादपद्मसुषमानुकृतिक्षमाणि
प्राप्तुं प्रवालपदभाञ्जि विभूषणानि ।
वल्कावृता धृतजटाः सुरदीर्घिकायां
कल्पद्रुमाः कति गिरीश तपश्चरन्ति ॥[१]

"गिरीश ! वल्कल पहने हुए, जटा धारण किए हुए कितने ही ये कल्पद्रुम इन देवताओं की बावली (सुरदीर्धिका) में तपस्या कर रहे हैं ताकि वे तुम्हारे पादपद्मसदृश कोमल पत्र रूपी आभूषणों को पा सकें।"

यहाँ "सुरदीर्घिका" पद अपने मुख्य अर्थ (देवताओं की बावली) को त्याग कर "सुरदीर्धिका तट" अर्थ का बोध कराता है। कल्पद्रुम सुरदीर्धिका के तट पर स्थित हैं, सुरदीर्घिका में नहीं। अतः सुरदीर्घिका पद अपने मुख्य अर्थ को त्याग कर अपने से सम्बन्धित तट अर्थ को लक्षित करता है और सुरदीर्धिका तट पावन है इस प्रयोजन का भी बोध कराता है। इसलिए यह जहत्स्वार्था फल लक्षणा है।

जहत्स्वार्था का ही प्रसिद्ध उदाहरण है : "गङ्गायां घोषः।" यहाँ 'गङ्गा' पद अपने जलप्रवाह अर्थ को त्याग कर उससे सम्बन्धित तट अर्थ को लक्षित करता है और तट शीत एवं पावन हैं इस प्रयोजन का बोध कराता है।

जहल्लक्षणा का एक भेद है—विपरीतलक्षणा। इसमें लाक्षणिक पद न केवल अपने मुख्य अर्थ को त्यागता ही है, अपितु मुख्य अर्थ के विरुद्ध अर्थ की प्रतीति कराता है जैसे—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते
सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे
सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ॥[२]

"मित्र तूने मुझ पर बड़ा उपकार किया। मैं क्या कहूँ ? तूने बड़ी सज्जनता दिखलायी। सदा ऐसा ही करते रहना। सौ वर्ष तक सुखी रहो।"

प्रकरण में अपकारी मित्र के प्रति यह उक्ति है। यहाँ उपकृत आदि पद स्वार्थ का परित्याग करके प्रकरणगत विरोधादि सम्बन्ध से अपकृत आदि विरुद्ध अर्थ की प्रतीति कराते हैं। यहाँ अपना साधुत्व प्रदर्शन ही प्रयोजन है।

---

१. वृत्तिवार्तिक, पृ० १६
२. वही, पृ० २०

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

दीक्षित विपरीतलक्षणा को व्यक्तिरेक लक्षणा कहते हैं ।

(२) अजहल्लक्षणा शुद्धा फलवती

"जहाँ पद अपने मुख्य अर्थ को नहीं त्यागता । जैसे– कुन्ताः प्रविशन्ति । "कुन्तधारी पुरुष प्रवेश करते हैं" यहाँ 'कुन्त' पद ने अपने मुख्य अर्थ का त्याग नहीं किया । कुन्तधारी पुरुषों की निर्दयता का द्योतन लक्षणा का प्रयोजन है ।[१]

(३) जहदजहल्लक्षणा शुद्धा फलवती

"जहाँ पद अपने मुख्य अर्थ को अंशतः त्याग देता है । जैसे "ग्रामो दग्धः । "गाँव जल गया ।" यहाँ "ग्राम" पद समुदायार्थ का बोधक है । गाँव के किसी एक भाग का ही दाह हुआ है तो भी हम कहते हैं कि गाँव जल गया । जो जला नहीं उसका त्याग किया और जो जला है उसको लक्षित किया । यहाँ एक देश में जहत् और दूसरे देश में अजहत् होने से जहदजहल्लक्षणा है । गाँव का अधिकांश भाग जल गया है इस अर्थ का बोध कराना लक्षणा का फल है । इसी प्रकार "पुष्पितं वनम्" "वन पुष्पित हो गया" । वास्तव में सारा वन तो पुष्पित नहीं हुआ । अधिकांश भाग जो पुष्पित है वह अजहत् है; जो पुष्पित नहीं वह जहत् है । इसलिए यहाँ जहदजहल्लक्षणा है । वन का अधिकांश भाग पुष्पित है इस अर्थ का बोध कराना लक्षणा का फल है ।[२]

(४) सारोपा शुद्धा फलवती

"जहाँ विषयवाचक और विषयिवाचक पदों का निर्देश हो और दोनों में भेद होने पर भी सादृश्य से भिन्न किसी अन्य सम्बन्ध से अभेद की प्रतीति लक्षित हो तथा जिसका कोई विशिष्ट प्रयोजन हो ।" जैसे–

आपादमाचिकुरभारमशेषमङ्ग-
मानन्दसारमरविन्ददृशामसीमम् ।
अन्तर्मम स्फुरतु सन्ततमन्तरात्म-
न्नम्भोजलोचन तव श्रितहस्तशैलम् ।।[३]

---

१. वृत्तिवार्तिक, पृ० २० 'कुन्ताः प्रविशन्ति यष्टयश्च' अत्र कुन्तादि पदस्य तद्वत्सु पुरुषेषु लक्षणा । तेषां निर्दयप्रहर्तृत्वादि द्योतनं फलम् ।

२. वही, पृ० २० ग्रामैकदेशदाहादौ सति 'ग्रामो दग्धः' अत्र दग्धभूयस्त्वादि द्योतनं फलम् । एवं 'पुष्पितं वनम्' इत्यादि प्रयोगेऽपि ।

३. वही, पृ० २२

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

त्वत्पादपद्मसुषमानुकृतिक्षमाणि
प्राप्तुं प्रवालपदभाञ्जि विभूषणानि ।
वल्कावृता धृतजटाः सुरदीर्घिकायां
कल्पद्रुमाः कति गिरीश तपश्चरन्ति ॥[१]

"गिरीश ! वल्कल पहने हुए, जटा धारण किए हुए कितने ही ये कल्पद्रुम इन देवताओं की बावली (सुरदीर्धिका) में तपस्या कर रहे हैं ताकि वे तुम्हारे पादपद्मसदृश कोमल पत्र रूपी आभूषणों को पा सकें।"

यहाँ "सुरदीर्घिका" पद अपने मुख्य अर्थ (देवताओं की बावली) को त्याग कर "सुरदीर्धिका तट" अर्थ का बोध कराता है। कल्पद्रुम सुरदीर्घिका के तट पर स्थित हैं, सुरदीर्घिका में नहीं। अतः सुरदीर्घिका पद अपने मुख्य अर्थ को त्याग कर अपने से सम्बन्धित तट अर्थ को लक्षित करता है और सुरदीर्धिका तट पावन है इस प्रयोजन का भी बोध कराता है। इसलिए यह जहत्स्वार्था फल लक्षणा है।

जहत्स्वार्था का ही प्रसिद्ध उदाहरण है : "गङ्गायां घोषः।" यहाँ 'गङ्गा' पद अपने जलप्रवाह अर्थ को त्याग कर उससे सम्बन्धित तट अर्थ को लक्षित करता है और तट शीत एवं पावन हैं इस प्रयोजन का बोध कराता है।

जहल्लक्षणा का एक भेद है–विपरीतलक्षणा। इसमें लाक्षणिक पद न केवल अपने मुख्य अर्थ को त्यागता ही है, अपितु मुख्य अर्थ के विरुद्ध अर्थ की प्रतीति कराता है जैसे—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते
सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे
सुखितमास्व ततः शरदां शतम् ॥[२]

"मित्र तूने मुझ पर बड़ा उपकार किया। मैं क्या कहूँ ? तूने बड़ी सज्जनता दिखलायी। सदा ऐसा ही करते रहना। सौ वर्ष तक सुखी रहो।"

प्रकरण में अपकारी मित्र के प्रति यह उक्ति है। यहाँ उपकृत आदि पद स्वार्थ का परित्याग करके प्रकरणगत विरोधादि सम्बन्ध से अपकृत आदि विरुद्ध अर्थ की प्रतीति कराते हैं। यहाँ अपना साधुत्व प्रदर्शन ही प्रयोजन है।

---

१. वृत्तिवार्तिक, पृ० १९
२. वही, पृ० २०

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

दीक्षित विपरीतलक्षणा को व्यक्तिरेक लक्षणा कहते हैं।

(२) अजहल्लक्षणा शुद्धा फलवती

"जहाँ पद अपने मुख्य अर्थ को नहीं त्यागता। जैसे— कुन्ताः प्रविशन्ति। "कुन्तधारी पुरुष प्रवेश करते हैं" यहाँ 'कुन्त' पद ने अपने मुख्य अर्थ का त्याग नहीं किया। कुन्तधारी पुरुषों की निर्दयता का द्योतन लक्षणा का प्रयोजन है।[१]

(३) जहदजहल्लक्षणा शुद्धा फलवती

"जहाँ पद अपने मुख्य अर्थ को अंशतः त्याग देता है। जैसे "ग्रामो दग्धः। "गाँव जल गया।" यहाँ "ग्राम" पद समुदायार्थ का बोधक है। गाँव के किसी एक भाग का ही दाह हुआ है तो भी हम कहते हैं कि गाँव जल गया। जो जला नहीं उसका त्याग किया और जो जला है उसको लक्षित किया। यहाँ एक देश में जहत् और दूसरे देश में अजहत् होने से जहदजहल्लक्षणा है। गाँव का अधिकांश भाग जल गया है इस अर्थ का बोध कराना लक्षणा का फल है। इसी प्रकार "पुष्पितं वनम्" "वन पुष्पित हो गया"। वास्तव में सारा वन तो पुष्पित नहीं हुआ। अधिकांश भाग जो पुष्पित है वह अजहत् है; जो पुष्पित नहीं वह जहत् है। इसलिए यहाँ जहदजहल्लक्षणा है। वन का अधिकांश भाग पुष्पित है इस अर्थ का बोध कराना लक्षणा का फल है।[२]

(४) सारोपा शुद्धा फलवती

"जहाँ विषयवाचक और विषयिवाचक पदों का निर्देश हो और दोनों में भेद होने पर भी सादृश्य से भिन्न किसी अन्य सम्बन्ध से अभेद की प्रतीति लक्षित हो तथा जिसका कोई विशिष्ट प्रयोजन हो।" जैसे—

आपादमाचिकुरभारमशेषमङ्ग-
मानन्दसारमरविन्ददृशामसीमम्।
अन्तर्मम स्फुरतु सन्ततमन्तरात्म-
न्नम्भोजलोचन तव श्रितहस्तशैलम्॥[३]

---

१. वृत्तिवार्तिक, पृ० २० 'कुन्ताः प्रविशन्ति यष्टयश्च' अत्र कुन्तादि पदस्य तद्वत्सु पुरुषेषु लक्षणा। तेषां निर्दयप्रहर्तृत्वादि द्योतनं फलम्।

२. वही, पृ० २० ग्रामैकदेशदाहादौ सति 'ग्रामो दग्धः' अत्र दग्धभूयस्त्वादि द्योतनं फलम्। एवं 'पुष्पितं वनम्' इत्यादि प्रयोगेऽपि।

३. वही, पृ० २२

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

"कमलनेत्र भगवान् ! सिर के केशों से लेकर पांवों तक का तुम्हारा समूचा शरीर जोकि कमलनयनी युवतियों के लिए अमन्द आनन्द का सार है, जबकि तुम एक हाथ से गोवर्धन पर्वत को उठाये हुए हो, मेरे अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित हो।"

यहाँ श्रीकृष्ण के शरीर पर आनन्द का आरोप किया गया है। वाक्यार्थ के सम्बन्ध से 'आनन्द' पद 'आनन्ददायक' अर्थ को लक्षित करता है। "श्रीकृष्ण का शरीर एक विलक्षण आनन्द का उत्पादक है।" इस अर्थ का द्योतन कराना लक्षणा का फल है।

यहाँ सादृश्य सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत कार्यकारण सम्बन्ध है। इसलिए यहाँ सारोपा शुद्धा लक्षणा है।

(५) साध्यवसाना शुद्धा फलवती

"जहाँ विषयवाचक (मुख आदि) पद का विषयिवाचक (चन्द्रआदि) पद से निगरण हो जाये।" जैसे "आनन्दकार्येयं माणवकः" न कहकर "आनन्दोऽयम्" ऐसा कहें तो आरोप्यमाण विषयी 'आनन्द' पद का नाम से निर्देश हुआ और आरोप विषय माणवक का 'अयम्' सर्वनाम से निर्देश हुआ। यह शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा का उदाहरण है। अतिशय आनद का द्योतन कराना इस लक्षणा का फल है।

(६) सारोपा गौणी फलवती

"जहाँ विषयवाचक (मुखादि) और विषययिवाचक (चन्द्रादि) दोनों पदों का निर्देश होने के साथ-साथ उनमें भेद होने पर भी गुणसादृश्य से अभेद प्रतीति लक्षित होती है।" जैसे–

"नाथ त्वदीयमकङ्कमिमं मुखेन्दु–
मापीय तृप्यति सदा वसुधा यतस्ते।
तेनैव किं नवसुधारसगोचरोऽभू–
दिन्दुः कलङ्कमलिनीकृतमध्यभागः ॥[1]

"नाथ ! तुम्हारे अकलंक मुख-चन्द्रमा को देखकर पृथ्वी (प्रजा) सदा तृप्त रहती है। इसी ईर्ष्या से सुधामय चन्द्रमा का हृदय (मध्य भाग) कलुषित सकलंक हो गया है क्या ?"

---

१. वृत्तिवार्तिक, पृ० २०

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यहाँ किसी प्रेयसी ने प्रिय के मुख पर चन्द्रमा का आरोप किया है। आरोपविषय (मुख) और आरोप्यमाण विषयी (चन्द्रमा) दोनों का निर्देश है। गुणसादृश्य से मुख और चन्द्रमा की जो अभेद प्रतीति होती है वह लक्षणा का फल है। एक दूसरे उदाहरण "गौर्वाहीकः" में भी दीक्षित जडत्वादि गुणसादृश्य से 'वाहीक' में 'गो' का आरोप मानते हैं। वाहीक के साथ गोपद की अन्विति तभी हो सकती है जब जाड्य, मान्द्य आदि 'गो' गत गुण वाहीक में लक्षित होकर जाड्य मान्द्यादि गुण विशिष्ट वाहीक अर्थ का बोध करायें।

(७) साध्यवसाना गौणी फलवती

जहाँ केवल विषयि वाचक (चन्द्रादि) पद का प्रयोग हो अथवा विषय-वाचक पद के लिए किसी सर्वनाम का प्रयोग हो। जैसे "गौर्वाहीकः" सारोपा गौणी के उदाहरण में 'वाहीकः' पद को हटाकर उसके स्थान पर सर्वनाम 'अयम्' पद का प्रयोग करें और "गोरयम्" ऐसा कहें अथवा सर्वनाम का प्रयोग न करके वाहीक को इंगित करते हुए गौरागच्छति ऐसा कहें तो यह गौणी साध्य-वसाना का उदाहरण होगा।

यहाँ भी गुणसादृश्य से विषय और विषयी की अभेद प्रतीति कराना ही लक्षणा का फल है।

लक्षणा की इस भेद कल्पना का मूल आधार काव्यशास्त्रीय परम्परा है। किन्तु दीक्षित परम्परा के अनुयायी होने के साथ-साथ स्वतन्त्र विचारक भी हैं। उनके अभिधा सम्बन्धी स्वतन्त्र विचारों का हमने अभिधा विवेचन में अवलोकन किया है। अब हम लक्षणा सम्बन्धी उनके स्वतन्त्र विचारों का भी अवलोकन करते हैं। दीक्षित के अनुसार शुद्धा जहल्लक्षणा और शुद्धा साध्यवसाना में वास्तविक अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों में लाक्षणिक पद परार्थ के प्रतिपादन हेतु स्वार्थ का समर्पण कर देता है। जैसे–'गङ्गायां घोषः' इस शुद्धा जहल्लक्षणा में 'गङ्गा' पद 'तट' अर्थ को, जो कि उसका अपना अर्थ नहीं है, लक्षित करने के लिए अपने जलप्रवाह अर्थ को त्याग देता है। इस प्रकार शुद्धा जहल्लक्षणा और शुद्धा साध्यवसाना ये दोनों परार्थ को लक्षित करने के लिए स्वार्थ को समर्पित करती है। इन दोनों में कोई भेद नहीं रह जाता।

लक्षणा के सम्बन्ध में कुछ अन्य प्रसंग भी विचारणीय हैं। काव्य-शास्त्रियों ने गौणी फललक्षणा के दो ही भेद किए हैं:— (१) सारोपा और (२) साध्यवसाना तथा शुद्धा फललक्षण के पाँच भेद किये हैं:—

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(१) जहत्
(२) अजहत्
(३) जहदजहत्
(४) सारोपा और
(५) साध्यवसाना

अब यह प्रश्न स्वाभाविक है कि गौणी फल लक्षणा के दो ही भेद क्यों ? जहद् तथा अजहद् भेद क्यों नहीं ? इस प्रश्न को उदाहरण द्वारा इस प्रकार दोहराया जा सकता है । 'मुखं कमलम्', 'गौर्वाहीकः' गौणी लक्षणा के इन उदाहरणों में जहाँ लाक्षणिक पद परार्थ को लक्षित करने के लिए स्वार्थ को त्याग देता है वहाँ जहल्लक्षणा हो सकती है । दूसरी ओर 'गाव एते समानीयन्ताम्' गौणी साध्यवसाना के इस उदाहरण में गोपद जडत्वादि गुण विशिष्ट व्यक्ति का बोध कराने में स्वार्थ का भी उपादान करता है । ऐसे उदाहरणों में अजहल्लक्षणा भी हो सकती है । फिर गौणी के सारोपा और साध्यवसाना ये दो भेद क्यों ? वृत्तिवार्तिक में दीक्षित ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है । वाच्यार्थ और लक्षणार्थ में सादृश्य सम्बन्ध होने पर ही लक्षणा होती है । 'मुखं कमलम्', ऐसे उदाहरणों में आरोप करने पर ही गुणसादृश्य का बोध होता है, अन्यथा नहीं । अतः सारोपा गौणी लक्षणा के ही ये उदाहरण हो सकते हैं, जहल्लक्षणा के नहीं । 'गाव एते समानीयन्ताम्'—गौणी साध्यवसाना के ऐसे वाक्यों में भी जहाँ आरोप-विषय निगीर्ण हो जाता है सादृश्य आरोप मूलक ही है । यदि हम यहाँ गौणी साध्यवसाना न मानकर अजहत्स्वार्था लक्षणा मानने लगें तो आरोप विषय और आरोप्यमाण विषयी में सादृश्य उपस्थित नहीं होगा । तब यहाँ गौणी लक्षणा का होना ही असम्भव हो जायेगा ।

लक्षणा के सम्बन्ध में एक अन्य बात भी विचारणीय है । मम्मटादि काव्य-शास्त्रियों ने जहद् और अजहद् लक्षणा का उल्लेख नहीं किया है । इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वे जहद् और अजहद् लक्षणा को नहीं मानते । इनके स्थान पर उन्होंने लक्षणलक्षणा और उपादानलक्षणा नाम दिये हैं । इनके लक्षण और उदाहरणों में जहद् और अजहद् लक्षणा से कोई भेद नहीं है ।

जहद्, अजहद्, जहदजहद-तीनों नाम वेदान्त शास्त्र में प्रचलित हैं । जहदजह-लक्षणा को वेदान्त में भाग त्याग लक्षणा भी कहा है । जैसे कि 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' भाग को त्याग कर 'असि' पद से शुद्ध चैतन्य

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

का बोध होता है। काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य मम्मटादियों ने इस लक्षणा को नहीं माना है। किन्तु इस दिशा में दीक्षित वेदान्तशास्त्र के अनुयायी हैं। उन्होंने वेदान्तशास्त्र की तीनों लक्षणाओं—जहद्, अजहद्, जहदजहद् को लक्षणा भेदों में स्थान दिया है। इस विषय में दीक्षित काव्यशास्त्र की परम्परा से स्वतन्त्र हो गये हैं।

वृत्तिवार्तिक में केवल दो ही वृत्तियों—अभिधा और लक्षणा—का विवेचन हुआ है। वृत्तिवार्तिक अधूरी कृति है जो लक्षणा-विवेचन पर ही समाप्त हो जाती है। अतः व्यंजना के सम्बन्ध में उनके क्या विचार रहे होंगे? स्पष्ट नहीं होते। उनके अभिधा-विवेचन से ही प्रतीत होता है कि वे कई काव्यशास्त्रीय विषयों पर व्यंजनावादियों से गहरा मतभेद रखते थे।

○○○

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

चित्रमीमांसा

अप्पय दीक्षित और काव्यलक्षण विचार

संस्कृतसाहित्य में काव्यलक्षण से ही काव्यशास्त्र का आरम्भ होता है। दीक्षित इस नियम के अपवाद हैं। उनकी काव्यशास्त्रीय कृतियों का आरम्भ काव्यलक्षण से नहीं होता। आरम्भ की तो बात ही दूर रही, उनकी कृतियों में काव्य का लक्षण ही नहीं है, यद्यपि उनमें काव्य शास्त्रीय विषयों पर विस्तृत विचार हुआ है।

काव्य की परिभाषा विवादग्रस्त है। चित्रमीमांसा की सुधा व्याख्या में धरानन्द ने कुछ प्रसिद्ध काव्यशास्त्रियों के काव्य लक्षणों का ऊहापोह पूर्वक विवेचन किया है। इनमें एक काव्यलक्षण यह है—"काव्यं लोकोतरवर्णाना निपुणस्य कवेरसाधारणं कर्म।"[1] यह काव्यलक्षण किसका है? इस सम्बन्ध में धरानन्द कुछ नहीं कहते, यद्यपि अन्य लक्षणों के साथ उन्होंने लक्षणकारों के नाम भी दिये हैं। इस काव्यलक्षण के साथ किसी लक्षणकार का नाम नहीं है। धरानन्द ने इस लक्षण की आलोचना भी नहीं की। किन्तु इस काव्यलक्षण की संगति दीक्षित की काव्यशास्त्रीय मान्यताओं से बैठ जाती है। इस काव्यलक्षण के साथ यदि हम दीक्षित का नाम जोड़ दें तो अनुचित नहीं होगा। चित्र-मीमांसा में जिस अलंकार प्रधान वर्णनात्मक अर्थचित्र काव्य की व्याख्या की गयी है, यह लक्षण उसी का प्रतीक है।

काव्यभेदविचार

दीक्षित के अनुसार काव्य के तीन भेद हैं:—

---

१. चित्रमीमांसा, पृ० ११

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(१) ध्वनि
(२) गुणीभूत व्यंग्य और
(३) चित्र

साहित्य-परम्परा के अनुसार ध्वनि उत्तम काव्य है, गुणीभूत व्यंग्य मध्यम काव्य है, चित्र अधम काव्य है। किन्तु दीक्षित इस परम्परा को नहीं मानते हैं। इनके विचार में लोकोत्तर वर्णानात्मक चित्रकाव्य उत्तम कोटि में आ सकता है। इसी विचार के समर्थन में दीक्षित ने चित्रमीमांसा की रचना की है।

काव्यभेद के सम्बन्ध में भी काव्यशास्त्रियों में मतभेद है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में काव्य के दो ही भेद माने हैं: ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य। पण्डित जगन्नाथ काव्य को चार भागों में बाँटते हैं:—

(१) उत्तमोत्तम, (२) उत्तम,
(३) मध्यम, (४) अधम।

उत्तमोत्तम में ध्वनि को, उत्तम में जागरूक गुणीभूत व्यंग्य को, मध्यम में अजागरूक गुणीभूत व्यंग्य को और अधम में शब्दचित्र को रखते हैं।[1] दीक्षित के अनुसार काव्यभेदों की परिभाषा इस प्रकार है--

(क) ध्वनिकाव्य

"यत्र वाच्यातिशायि व्यंग्यं स ध्वनिः।"[2]

"जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ प्रधान हो।" जैसे--

निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं वपुः।
मिथ्यावादिनि दूति ! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥[3]

"तेरे स्तनों के किनारों से चन्दन बह गया, होठों में ललाई नहीं रही, आँखों में काजल नहीं रहा, देह पुलकित है। दूती तू असत्य बोल रही है। मेरी व्यथा

१. पण्डितराज जगन्नाथ : रसगङ्गाधर, पृ० १४
२. चित्रमीमांसा, पृ० २३
३. वही, पृ० २६

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

को तू नहीं जानती । तू यहाँ से बावड़ी में नहाने गयी, उस नीच को मेरा सन्देश देने नहीं गयी ।"

नायिका दूती से कह रही है कि तेरे अंगों को देखकर पता चलता है कि तू बावड़ी में नहाकर आयी है, उस नीच को तूने मेरा सन्देश नहीं दिया । किन्तु नायिका के कहने का तात्पर्य है कि तू उस नीच के साथ सम्भोग करके आयी है, तेरे शरीर की अवस्था ही यह प्रकट कर रही है । पद्य में जो 'अधम' पद का प्रयोग हुआ है उससे नायक का दूती के साथ सम्भोग व्यञ्जित होता है । अतः यहाँ ध्वनि काव्य है ।

किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ उक्त पद्य में गुणीभूत व्यंग्य मानते हैं । उनके मत में अधम पद से सम्भोग व्यञ्जित होकर वाच्यार्थ का उपस्कारक हो गया है । इसी दृष्टि से पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगङ्गाधर में दीक्षित की आलोचना की है । किन्तु वास्तव में दीक्षित का ही पक्ष प्रवल है, जगन्नाथ का नहीं । क्योंकि कोई भी काव्य गुणीभूत व्यंग्य का तभी विषय बनता है जब उसमें व्यंग्यार्थ से उपस्कृत होकर वाच्यार्थ में ही रस की विश्रान्ति हो । किन्तु जहाँ व्यंग्यार्थ से उपस्कृत होकर वाच्यार्थ किसी दूसरे व्यंग्यार्थ का बोध कराता है तब वह ध्वनि काव्य का विषय हो जाता है । प्रस्तुत पद्य में 'अधम' पद न केवल दूती-नायक के सम्भोग का ही द्योतक है, अपितु दूती और नायक के प्रति नायिका के कोप का भी अभिव्यञ्जक है । इसलिए यहाँ ध्वनि स्पष्ट है । डॉ० भोला-शंकर व्यास ने ध्वनि काव्य के एक अन्य उदाहरण की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है—

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥

यहाँ पर भी कविवर ने वर्षा बिन्दुओं के द्वारा एक ओर पार्वती के तत-दङ्गों की सुन्दरता की व्यञ्जना करायी है, दूसरी ओर प्रथमवृष्टि के समय भी पार्वती की स्थिर समाधि की व्यञ्जना है । यहाँ पर व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्कृष्ट होने के कारण ध्वनि काव्य है ।[1]

---

१. डॉ० भोलाशंकर व्यास—कुवलयानन्द, पृ० २४-२५

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(ख) गुणीभूत व्यंग्य

"यत्र व्यंग्यं वाच्यानतिशायि तद्गुणीभूत व्यंग्यम् ।"[1]

"जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्कृष्ट न हो ।" जैसे—

प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेऽथवा
किमुत सकले याते वाह्नि प्रिय त्वमिहैष्यसि ।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालालापैः सवाष्पगलज्जलैः ॥[2]

"एक पहर उपरान्त या मध्याह्न में, या अपराह्न में, या पूरा दिन बीत जाने पर प्रिय ! तुम लौट आओगे न ? इस तरह कहती हुई प्रिया, जहाँ पहुँचने में सौ दिन लग जाते हैं उस दूर देश में जाने को उद्यत प्रिय की यात्रा को आँसू बहाकर रोक रही है ।"

यहाँ नायिका अपने मार्मिक वचनों से और आँसू बहाकर अपने प्रिय की यात्रा को रोक रही है । यह इस पद्य का वाच्यार्थ है । किन्तु यदि तुम पूरा दिन बीत जाने पर भी न आओगे तो मेरे प्राण चले जाएँगे—यह व्यंग्यार्थ है जो कि वाच्यार्थ—प्रियगमन निरोध–का उपस्कारक है । अतः यहाँ गुणीभूत व्यंग्य है ।

पण्डितराज जगन्नाथ इस पद्य को ध्वनिकाव्य मानते हैं । उनके अनुसार यहाँ विप्रलम्भ श्रृंगार रूप असंलक्ष्यक्रम ध्वनिकाव्य है जो पद्य के वाच्यार्थ से उत्कृष्ट है । किन्तु इस सम्बन्ध में यह समझ लेना भी आवश्यक है कि विप्रलम्भ श्रृंगार तभी होता है जब विरह घटित हो जाये । इस पद्य से स्पष्ट है कि अभी विरह घटित नहीं हुआ । 'परिहरति' पद से प्रतीत होता है कि वह अभी घटित होगा भी नहीं । अतः यह पद्य विप्रलम्भ श्रृंगार रूप असंलक्ष्यक्रम ध्वनि का विषय नहीं हो सकता । दीक्षित के अनुसार यहाँ गुणीभूत व्यंग्य ही मानना उचित है ।

(ग) चित्रकाव्य

"यदव्यंग्यमपि चारु तच्चित्रम् ।"[3]

---

१. चि० मी०, पृ० ३२
२. वही, पृ० ३४
३. वही, पृ० ३५

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

जहाँ व्यंग्यरहित अथवा ईषत् व्यंग्य युक्त होते हुए भी वाच्यार्थ सुन्दर हो।"

ध्वनिकाव्य में व्यंग्यार्थ प्रधान होता है। गुणीभूत व्यंग्य काव्य में व्यंग्यार्थ गौण होता है। चित्रकाव्य में व्यंग्यार्थ होता ही नहीं और यदि होता है तो वह स्फुट नहीं होता ! यहाँ व्यंग्य के अभाव की पूर्ति गुण और अलंकार से होती है। वही इस काव्य के चमत्कार का उपादान कारण है।

दीक्षित ने चित्रकाव्य के तीन भेद माने हैं : शब्दचित्र, अर्थचित्र और उभय चित्र। शब्दचित्र में शब्दालंकार, अर्थचित्र में अर्थालंकार और उभयचित्र में शब्दार्थालंकार होते हैं। इन तीनों में शब्दार्थ व्यंग्य नहीं होता और यदि होता है तो वह अलंकारगोचर होता है। चित्रमीमांसा में दीक्षित ने चित्रकाव्य के इन तीन भेदों का एक-एक उदाहरण दिया है—

(१) शब्दचित्र

"जहाँ शब्दालंकार प्रधान हो।"[1] जैसे—

नवपलाशपलाशवनं पुरः
स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकय-
त्स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः॥[2]

"श्रीकृष्ण ने कुसुम सौरभ से सुवासित वसन्त ऋतु को देखा जब पलाश के पौधों पर पत्तियाँ उग आयी थीं, कमलों के भीतर पराग भर गया था और (धूप में) कोमल पत्ते मुरझा गये थे।"

यहाँ यमक और वृत्यनुप्रास दोनों शब्दालंकार काव्य चमत्कृति के आधायक हैं।

प्राचीन आचार्यों ने शब्दचित्र को महत्त्व नहीं दिया। दीक्षित भी शब्द चित्र को महत्त्व नहीं देते हैं। तभी चित्रमीमांसा में उन्होंने शब्दचित्र की मीमांसा नहीं की।

---

१. चित्रमीमांसा पृ० ३५ : दे० सुधाव्याख्या-"शब्दविषयक गुणालंकारचमत्कृति विशेषवत्त्वम्।"
२. वही, पृ० ३६—शिशुपाल वध ६/२

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(२) अर्थचित्र

"जहाँ अर्थालंकार प्रधान हो।"[१] जैसे—

ह.नं. १५८७४

स छिन्नमूलः क्षतजेन रेणु
स्तस्योपरिष्टात्पनावधूतः।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य
पूर्वोत्थितो धूम इवावभासे॥[२]

"योद्धाओं के रक्त से रञ्जित भूतल की रेणु, जो हवा से आकाश में उड़ने लगी ऐसी प्रतीत हुई मानो कि वह लकड़ी के अंगारा हो जाने से पहले आग से उठा हुआ धुँआ हो।"

यहाँ रक्तरञ्जित भूतल की ज्वलन्त अंगार के साथ और आकाश में उड़ी धूलि की धुएं के साथ तुलना की कल्पना की गई है। इस तरह यहाँ उत्प्रेक्षा अर्थालंकार से काव्य में वैचित्र्य आ गया है।

(३) उभयचित्र

"जहाँ शद्वालंकार और अर्थालंकार दोनों प्रधान हों।"[३] जैसे—

"वराहः कल्याणं वितरतु स वः कल्पविरमे
विनिर्धुन्वन्नोदन्वतमुदकमुर्वीमुदवहत्।
खुराघातत्रुट्यत्कुलशिखरिकूटप्रविलुठ—
च्छिलाकोटिस्फोटस्फुटघटितमङ्गल्यनिवहः॥[४]

"वराह भगवान आपका कल्याण करें जो प्रलयकाल में समुद्र को हिलाते हुए, पृथ्वी को धारण करते हुए और खुरपुटों के आघात से कुल पर्वतों को पीसते हुए मंगल पटह की ध्वनि पैदा करते हैं।"

यहाँ वृत्त्यनुप्रास शब्दालंकार है और रूपक अर्थालंकार है। दोनों अलंकार चमत्कार के आधायक हैं। इसलिए दीक्षित ने इसे उभयचित्र कहा है।

मम्मट ने[५] उभयचित्र को नहीं माना है। इनके अनुसार चित्रकाव्य के दो ही भेद हैं: शब्दचित्र और अर्थचित्र। व्यंग्यहीन होने के कारण चित्रकाव्य

---

१. चित्र मीमांसा, पृ० ३५ दे० सुधा-अर्थोपयोगिगुणालंकारचमत्कारवत्त्वम्।
२. वही, पृ० ३६
३. वही, पृ० ३५ सुधा-उभयविषयकगुणालंकारचमत्कृतिमत्त्वम्।
४: वही, पृ० ३७
५. मम्मटः—काव्यप्रकाश १. ४

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अधम भी है।[१] विश्वनाथ[२] चित्रकाव्य को नहीं मानते। इनके विचार में व्यंग्य न होने पर काव्यत्व ही नहीं रहता।

किन्तु विश्वनाथ के अनुसार यदि हम व्यंग्यहीनता को काव्यत्व की उपपत्ति में बाधक तत्त्व मान लें तब अर्थचित्र प्रतिपादक उपमादि अलंकारों से घटित काव्य का काव्यत्व नहीं रहेगा। फिर जहाँ व्यंग्य नहीं होगा गुण और अलंकार भी व्यर्थ हो जायेंगे। इसलिये काव्यशास्त्र में विश्वनाथ के चित्रकाव्य विरोधी विचारों की मान्यता नहीं है। दूसरी ओर, ध्वनिवादी आचार्यों ने भी जिनमें ध्वनिकार आनन्दवर्धन[३] और पण्डितराज जगन्नाथ[४] प्रमुख हैं, व्यंग्य के अभाव में भी अलंकार घटित चित्रकाव्य को मान्यता दी है। इनके मत में व्यंग्य के प्रधान और गुणीभूत होने पर क्रमशः ध्वनि और गुणीभूत काव्य होते हैं, किन्तु व्यंग्य के अभाव में अलंकार प्रधान काव्य चित्रकाव्य कहलाता है।

चित्रकाव्य मीमांसा

चित्रकाव्य के सम्बन्ध में काव्यशास्त्रियों मे तीव्र मतभेद है। व्यञ्जनावादी आचार्य चित्रकाव्य को या तो अधम मानते हैं, या वे निरस्त कर देते हैं। अलंकारवादी आचार्यो ने ही चित्रकाव्य को महत्त्व दिया है। दीक्षित भी अलंकारवादी हैं और वे व्यंग्य काव्य की अपेक्षा चित्रकाव्य को किसी अर्थ में न्यून नहीं समझते। दीक्षित ने चित्रकाव्य के अस्तित्व को तो माना ही है, किन्तु उसके महत्त्व को भी स्वीकार किया है। जब काव्य व्यंग्य नहीं है अथवा ईषद् व्यंग्य है, किन्तु वाच्यार्थ आकर्षक है तो वह चित्रकाव्य के अतिरिक्त और क्या होगा? इसलिए ऐसे स्थलों में दीक्षित चित्रकाव्य ही मानते हैं। और जैसा कि ऊपर कहा है—दीक्षित ने चित्रकाव्य को तीन प्रकारों में विभाजित किया है: शब्दचित्र, अर्थचित्र, शब्दार्थचित्र। शब्द चमत्कृति होनेपर शब्दचित्र, अर्थचमत्कृति होने पर अर्थचित्र और शब्दार्थ चमत्कृति होने पर शब्दार्थचित्र काव्य होते हैं और क्योंकि अलंकार चमत्कृति के आधायक हैं इसलिए शब्दचित्र,

१. वही, १, ४—शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्।

२. विश्वनाथः—साहित्यदर्पण ४. १५५

३. आनन्दवर्धन-ध्वन्यालोक ३. ६८

प्रधानगुणभावाभ्यां व्यंग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
उभे काव्ये तदन्यद् यत्तच्चित्रमभिधीयते॥

४. रसगङ्गाधर: १, पृ० ७२-७५

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अर्थचित्र और शब्दार्थचित्र की रचना में शब्दालकार, अर्थालंकार और शब्दार्था-लंकार प्रयुक्त होते हैं। एक विचित्र तथ्य यह है कि दीक्षित शब्दालंकारों को, उन पर आधारित शब्दचित्रों को, नीरस और हेय समझते हैं।[1] चित्रमीमांसा में उन्होंने अर्थचित्र की ही व्याख्या की है और अर्थचित्र के उपस्कारक अलंकारों का ही विवरण दिया है।

किन्तु यहाँ कुछ विचारणीय है। काव्यक्षेत्र में शब्द और अर्थ का जो भेद माना गया है वह केवल बाह्यतम है। इस दिशा में आचार्यों के विश्लेषणात्मक विवेचन बाह्यतल तक ही सीमित हैं। काव्य के यथार्थ स्वरूप पें शब्द और अर्थ दोनों का पृथक्करण सम्भव नहीं है। काव्यशास्त्र के लिए जो साहित्य शब्द का प्रयोग हुआ है उसका यही अर्थ है कि शब्द और अर्थ दोनों सम्पृक्त हैं।

इस सम्बन्ध में एक अन्य तथ्य भी ध्यान में रखना चाहिए कि चित्रकाव्य की रचना में अलंकारों का योगदान महत्त्वपूर्ण है। किन्तु अलंकार मात्र को हम चित्रकाव्य नहीं कह सकते। अलंकार चित्रों का सृजन करते हैं। वे साधन मात्र हैं, साध्य नहीं हैं।

विश्वनाथ ने[2] अलंकारों को कटक-कुण्डल के समान काव्य शरीर का शोभा धायक वाह्य उपकरण माना है। वामन के[3] मत में भी अलंकार काव्य सौन्दर्य को पुष्ट करते हैं, उसका सृजन नहीं करते। किन्तु यह काव्य शरीर के बाह्य तल का विवेचन है, काव्य शरीर के अन्तस्तल का विवेचन नहीं है। यह तो तथ्य है कि अलंकार काव्य की शोभा को बढ़ाते हैं, लेकिन कटक-कुण्डल की तरह नहीं। वाच्य या व्यंग्य अर्थों से वैचित्र्य का आधान करते हुए वे काव्य का स्वरूप ही हैं। उन्हें काव्यत्व से पृथक् नहीं किया जा सकता[4]। यद्यपि वे काव्य की आत्मा नहीं हैं तो भी वे काव्य के शरीर हैं। इसलिए कोई भी काव्य बिना अलंकार के नहीं होता। फिर मम्मट की[5] यह धारणा कि बिना अलंकार

---

१. चित्रमीमांसा, पृ० ४० शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वान्नात्यन्तं तदाद्रियन्ते कवयः, न वा तत्र विचारणीयमतीत्रोपलभ्यत इति शब्दचित्रं शमपहायार्थचित्रमीमांसा प्रसन्नविस्तीर्णा प्रस्तूयते।

२. सा० द०, १. १ शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माश्शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्॥

३. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३. १ १–२

४. ध्वन्यालोक, २. न तेषां (अलंकाराणां) बहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ।

५. काव्यप्रकाश, १. अनलंकृती पुनः क्वापि

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

के भी काव्य हो सकता है, अमान्य हो जाती है। काव्य लक्षण के प्रसंग में जयदेव ने चन्द्रालोक[1] में इसी बात पर मम्मट की आलोचना की है। वे कहते हैं कि जैसे अग्नि और उसका उष्ण गुण भिन्न नहीं है वैसे ही काव्य और अलंकार भिन्न नहीं हैं।

दीक्षित ने शब्दालंकार से उपस्कृत चित्रकाव्य को नीरस और हेय कहा है। यह तथ्य भी विचारणीय है। सरसता या नीरसता अलंकारों के प्रयोग पर निर्भर करती है। अलंकार चाहे शब्दगत हों, चाहे अर्थगत हों वे काव्य का चमत्कार बढ़ाते हैं। पदयोजना में या अर्थाभिव्यक्ति में या एक साथ दोनों में चमत्कार पैदा किया जा सकता है। अलंकारों का कार्य एक ओर बौद्धिक विचारों और हृदयावेगों को सौन्दर्य से अलंकृत करना है, दूसरी ओर पदयोजना को उज्ज्वल और प्रभावशाली बनाना है। इसलिए इनका विन्यास ऐसा होना चाहिए कि वे प्रस्तुत रस या भाव का उत्कर्ष बढ़ा सकें।

अलंकार-प्रधान चित्रकाव्य प्रायः वर्णनात्मक होता है। विषय-वस्तु का प्रतिपादन कराने के साथ-साथ वह उसकी रूपरेखा का भी अंकन करता है। यह अंकन व्यक्तिविशेष का, वस्तुविशेष का या एक-साथ दोनों का भी हो सकता है, किन्तु व्यक्ति सामान्य या वस्तु सामान्य का नहीं हो सकता। चित्रकला के नियमानुसार कोई भी चित्र व्यक्ति या वस्तु के जातिगत रूप या आकार का परिचय नहीं दे सकता है।

अलंकार-प्रधान चित्रकाव्य भावात्मक भी हो सकता है। भाव चित्रण के क्षेत्र में कवि स्वयं की अथवा किसी अन्य चेतन व्यक्ति की भावनाओं का चित्रण करता है और यदि वह चाहे तो उनका सम्बन्ध अचेतन से भी जोड़ सकता है। उदाहरणार्थ मेघदूत में कवि ने "कल्पना द्वारा चेतन यक्ष की भावनाओं को अचेतन मेघ से जोड़ दिया है"। ऐसे प्रकरण अर्थचित्र के सुन्दर उदाहरण हैं।

ऊपर कहा गया है कि चित्रकाव्य की रचना में अलंकारों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि अलंकार वस्तुगत सादृश्य धर्म से या आत्मपरक सादृश्य धर्म से मानवीय भावों के या प्राकृतिक पदार्थों

---

१. चन्द्रालोक, १. ८

अङ्गी करोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

के चित्र बनाते हैं। यह सादृश्य कहीं उपमानोपमेय भाव से, कहीं विम्ब-प्रतिविम्ब भाव से, कहीं वस्तु-प्रतिवस्तु भाव से और कहीं किसी अन्य भाव से प्रकट होता है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब हमारे विचार कल्पना के सम्पर्क में देर तक रहे हों।

इस प्रकार भावनाओं के सहयोग से कल्पना चित्र को बनाती है। किन्तु यदि वह तर्क के साथ सम्बन्ध जोड़ लेती है तो चित्र बनना समाप्त हो जाते हैं। इसलिए यह आवश्यक नहीं कि उपमान और उपमेय सादृश्य तर्क संगत हो। यदि वे स्वभावतः तर्क संगत हैं तो आपत्ति भी नहीं। किन्तु यदि चित्र-कार उसे तर्क संगत बनाने का प्रयास करता है तो चित्र स्वाभाविक नहीं रहता।

इस पृष्ठभूमि में हम चित्रकाव्य के उपस्कारक प्रमुख अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

चित्रमीमांसा में दीक्षित ने बारह चित्रालंकारों का विवरण दिया है। इनमें दस चित्रालंकार–(१) उपमा, (२) उपमेयोपमा, (३) अनन्वय, (४) स्मरण, (५) रूपक, (६) परिणाम, (७) ससन्देह, (८) भ्रान्तिमान्, (९) उल्लेख, (१०) अपह्नुति—सादृश्य मूलक हैं और दो (१) उत्प्रेक्षा, (२) अतिशयोक्ति-अध्यवसाय-मूलक हैं। चित्रमीमांसा दीक्षित की अपूर्ण कृति है जिसमें केवल बारह अलंकारों का ही विवरण मिलता है। अन्य अलंकारों के चित्र सम्बन्धी दीक्षित के विचारों का हमें पूर्णतया ज्ञान नहीं हो पाता। कुवलयानन्द में दीक्षित ने प्रायः सभी अलंकारों का वर्णन किया है।[1] इनमें अधिकांश अलंकार जयदेव के चन्द्रालोक पर निर्भर करते हैं, किन्तु यह वर्णन अलंकारों की चित्रगत विशेषता की दृष्टि से नहीं किया गया।

---

१. कुवलयानन्द, पृ० २६–३७: अप्पय दीक्षित ने १७ नये अलंकारों को मान्यता दी है—

(१) प्रस्तुतांकुर	(७) मुद्रा	(१३) लोकोक्ति
(२) अल्प	(८) रत्नावली	(१४) छेकोक्ति
(३) कारकदीपक	(९) विशेषक	(१५) निरुक्ति
(४) मिथ्याध्यवसिति	(१०) गूढोक्ति	(१६) प्रतिषेध
(५) ललित	(११) विवृतोक्ति	(१७) विधि
(६) अनुज्ञा	(१२) युक्ति	

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अर्थचित्र के उपस्कारक अर्थालंकार

(१) उपमा

अर्थचित्रोपस्कारक चित्रालंकारों में उपमा का प्रमुख स्थान है। उपमा सभी साधर्म्यमूलक अलंकारों का आधार है। दीक्षित के अनुसार वह एक नर्तकी है, जो विविध अलंकार भूमिका में काव्य मंच पर आकर रसिकों को रञ्जित करती है।[1]

उपमा की परिभाषा प्रस्तुत करने से पहले दीक्षित ने प्राचीन आचार्यों के तीन उपमा लक्षणों की आलोचना की है। पहला लक्षण इस प्रकार है :

उपमानोपमेयत्वयोग्ययोरर्थयोर्द्वयोः ।
हृद्यं साधर्म्यमुपमेत्युच्यते काव्यवेदिभिः ॥[2]

यहाँ कहा गया है कि उपमान और उपमेय भिन्न-भिन्न वस्तु होनी चाहिए, क्योंकि जहाँ वे एक ही वस्तु हों वहाँ अनन्वय अलंकार होता है।[3] प्राचीनों ने उपमा की अनन्वय में अतिव्याप्ति को रोकने के लिए लक्षण में 'द्वयोः' पद का निवेश किया है। किन्तु दीक्षित का विचार है कि इतना करने पर भी उपमेयोपमा और प्रतीप में इस उपमा लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं रुक सकती। इसलिए प्राचीनों का यह उपमा लक्षणा निर्दुष्ट नहीं है।

इसमें एक दूसरे प्रकार से भी अतिव्याप्ति दोष है। इसमें उपमाध्वनि का भी अन्तर्भाव हो जाता है, जबकि उपमाध्वनि अलंकार नहीं है।

लक्षण में एक तीसरी अतिव्याप्ति भी है। इसमें यह नहीं कहा गया कि उपमानोपमेय के लिंग तथा वचन भिन्न होने पर अथवा सादृश्य के हीन-अधिक होने पर उपमा न होगी। इस लक्षण के अनुसार इन दोषों के होने पर भी उपमालंकार मानना होगा। किन्तु, सहृदयों को यह मान्य नहीं है।

---

१. चित्रमीमांसा, पृ० ४१

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।
रञ्जयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ॥

२. वही, पृ० ४४

३. यहाँ आचार्य मम्मट के मत को उपस्थित करते हैं–

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।
अनन्वयः ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

लक्षण एक अन्य प्रकार से भी दुष्ट है। इसमें कहा गया है कि जहाँ पदार्थ उपमान और उपमेय होने के योग्य हों अर्थात् जहाँ दो पदार्थों में साधर्म्य सम्भव हो वहीं उपमा होगी। इस अंश में लक्षण अव्याप्ति दोष ग्रस्त है क्योंकि जहाँ साधर्म्य कल्पित है, वास्तविक नहीं है वहाँ यह लक्षण अव्याप्त हो जाएगा। जैसे "हंसीव धवलाकीर्तिस्स्वर्गङ्गामवगाहते" इस पद्य में कीर्ति का धवल होना कविकल्पित है। ऐसे पद्यों में यह लक्षण घटित नहीं होगा।

इस प्रकार दीक्षित के विचार में प्राचीनों का यह उपमालक्षण अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त होने के कारण हेय है। किन्तु दीक्षित की इस आलोचना का विवेचन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि दीक्षित के समस्त दोषारोपण पूर्णतः उचित नहीं हैं। "हंसीव धवला कीर्तिः" इस पद्य में, दीक्षित के अनुसार, उपमेय कीर्ति का धवल होना कविकल्पित है। अतः ऐसे स्थलों में प्राचीनों के उपमा लक्षण की संगति नहीं बैठती। किन्तु दीक्षित का यह कथन विचारणीय है, क्योंकि काव्यशास्त्रियों के ही मतानुसार उपमानोपमेय की योग्यता कवि-समय-ख्याति पर निर्भर करती है।[1] प्राचीनों के लक्षण में भी कविकल्पित साधर्म्य का निषेध नहीं किया गया है। उपमान हंसी धवल है तो उपमेय कीर्ति के धवल होने का भी आक्षेप हो जाता है और प्राचीनों के लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। दीक्षित का दूसरा आक्षेप भी विचारणीय है। काव्य-शास्त्रियों के मतानुसार उपमान और उपमेय में लिंग-वचन भेद, हीन-अधिक दोषों का अभाव होना चाहिये। और क्योंकि प्राचीनों के उपमालक्षण में ऐसा कोई निषेध नहीं है तब उक्त दोषों के होने पर भी उपमालंकार की निर्दुष्टता माननी होगी। ऐसा मानने पर लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आ जाएगा। किन्तु दीक्षित का यह आक्षेप तर्कहीन है। प्रस्तुत लक्षण में "हृद्यं साधर्म्यम्" जो कहा है उससे प्रतीत होता है कि यह आवश्यक नहीं है कि उपमानोपमेय में लिंग-वचन भेद या न्यून-अधिक आदि दोष न हों, क्योंकि दोष होने पर भी यदि वे सहृदयों के उद्वेजक नहीं हैं तो वे उपमा को दूषित नहीं करते हैं।[2]

---

१. दीक्षित ने स्वयं भी तथ्य को माना है: दे० चि० मी० पृ० ४५ सर्वोऽपि ह्यलकारः कविसमयप्रसिद्ध्यनुरोधेन हृद्यतया काव्यशोभाकर एवालंकारतां भजते।

२. दण्डी, काव्यादर्शः न लिंगवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अर्थचित्र के उपस्कारक अर्थालंकार

(१) उपमा

अर्थचित्रोपस्कारक चित्रालंकारों में उपमा का प्रमुख स्थान है। उपमा सभी साधर्म्यमूलक अलंकारों का आधार है। दीक्षित के अनुसार वह एक नर्तकी है, जो विविध अलंकार भूमिका में काव्य मंच पर आकर रसिकों को रञ्जित करती है।[1]

उपमा की परिभाषा प्रस्तुत करने से पहले दीक्षित ने प्राचीन आचार्यों के तीन उपमा लक्षणों की आलोचना की है। पहला लक्षण इस प्रकार है :

उपमानोपमेयत्वयोग्ययोरर्थयोर्द्वयोः ।
हृद्यं साधर्म्यमुपमेत्युच्यते काव्यवेदिभिः ॥[2]

यहाँ कहा गया है कि उपमान और उपमेय भिन्न-भिन्न वस्तु होनी चाहिए, क्योंकि जहाँ वे एक ही वस्तु हों वहाँ अनन्वय अलंकार होता है।[3] प्राचीनों ने उपमा की अनन्वय में अतिव्याप्ति को रोकने के लिए लक्षण में 'द्वयोः' पद का निवेश किया है। किन्तु दीक्षित का विचार है कि इतना करने पर भी उपमेयोपमा और प्रतीप में इस उपमा लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं रुक सकती। इसलिए प्राचीनों का यह उपमा लक्षणा निर्दुष्ट नहीं है।

इसमें एक दूसरे प्रकार से भी अतिव्याप्ति दोष है। इसमें उपमाध्वनि का भी अन्तर्भाव हो जाता है, जबकि उपमाध्वनि अलंकार नहीं है।

लक्षण में एक तीसरी अतिव्याप्ति भी है। इसमें यह नहीं कहा गया कि उपमानोपमेय के लिंग तथा वचन भिन्न होने पर अथवा सादृश्य के हीन-अधिक होने पर उपमा न होगी। इस लक्षण के अनुसार इन दोषों के होने पर भी उपमालंकार मानना होगा। किन्तु, सहृदयों को यह मान्य नहीं है।

१. चित्रमीमांसा, पृ० ४१

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।
रञ्जयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ॥

२. वही, पृ० ४४

३. यहाँ आचार्य मम्मट के मत को उपस्थित करते हैं–

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।
अनन्वयः ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

लक्षण एक अन्य प्रकार से भी दुष्ट है। इसमें कहा गया है कि जहाँ पदार्थ उपमान और उपमेय होने के योग्य हों अर्थात् जहाँ दो पदार्थों में साधर्म्य सम्भव हो वहीं उपमा होगी। इस अंश में लक्षण अव्याप्ति दोष ग्रस्त है क्योंकि जहाँ साधर्म्य कल्पित है, वास्तविक नहीं है वहाँ यह लक्षण अव्याप्त हो जाएगा। जैसे "हंसीव धवलाकीर्तिस्स्वर्गङ्गामवगाहते" इस पद्य में कीर्ति का धवल होना कविकल्पित है। ऐसे पद्यों में यह लक्षण घटित नहीं होगा।

इस प्रकार दीक्षित के विचार में प्राचीनों का यह उपमालक्षण अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त होने के कारण हेय है। किन्तु दीक्षित की इस आलोचना का विवेचन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि दीक्षित के समस्त दोषारोपण पूर्णतः उचित नहीं हैं। "हंसीव धवला कीर्तिः" इस पद्य में, दीक्षित के अनुसार, उपमेय कीर्ति का धवल होना कविकल्पित है। अतः ऐसे स्थलों में प्राचीनों के उपमा लक्षण की संगति नहीं बैठती। किन्तु दीक्षित का यह कथन विचारणीय है, क्योंकि काव्यशास्त्रियों के ही मतानुसार उपमानोपमेय की योग्यता कवि-समय-ख्याति पर निर्भर करती है।[1] प्राचीनों के लक्षण में भी कविकल्पित साधर्म्य का निषेध नहीं किया गया है। उपमान हंसी धवल है तो उपमेय कीर्ति के धवल होने का भी आक्षेप हो जाता है और प्राचीनों के लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। दीक्षित का दूसरा आक्षेप भी विचारणीय है। काव्य-शास्त्रियों के मतानुसार उपमान और उपमेय में लिंग-वचन भेद, हीन-अधिक दोषों का अभाव होना चाहिये। और क्योंकि प्राचीनों के उपमालक्षण में ऐसा कोई निषेध नहीं है तब उक्त दोषों के होने पर भी उपमालंकार की निर्दुष्टता माननी होगी। ऐसा मानने पर लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आ जाएगा। किन्तु दीक्षित का यह आक्षेप तर्कहीन है। प्रस्तुत लक्षण में "हृद्यं साधर्म्यम्" जो कहा है उससे प्रतीत होता है कि यह आवश्यक नहीं है कि उपमानोपमेय में लिंग-वचन भेद या न्यून-अधिक आदि दोष न हों, क्योंकि दोष होने पर भी यदि वे सहृदयों के उद्वेजक नहीं हैं तो वे उपमा को दूषित नहीं करते हैं।[2]

---

१. दीक्षित ने स्वयं भी तथ्य को माना है: दे० चि० मी० पृ० ४५ सर्वोऽपि ह्यलकारः कविसमयप्रसिद्ध्यनुरोधेन हृद्यतया काव्यशोभाकर एवालंकारतां भजते।

२. दण्डी, काव्यादर्शः न लिंगवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

दूसरा लक्षण प्रतापरुद्रीयकार विद्यानाथ का है :

स्वतः सिद्धेन भिन्नेन सम्मतेन च धर्मतः ।
साम्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकदोपमा ॥[1]

"जहाँ उपमान स्वतः सिद्ध हो, उपमेय से भिन्न हो, उपमेय के साथ योग्यता रखता हो और जहाँ उपमान-उपमेय के साम्य को धर्म के आधार पर एक ही बार वाच्य रूप में प्रतिपादित किया जाय।"

'उपमान स्वतः सिद्ध हो' अर्थात् उपमान-उपमेय में सादृश्य स्वाभाविक हो, कल्पित न हो—ऐसा कहने से यह लक्षण उत्प्रेक्षा में अतिव्याप्त नहीं होगा, क्योंकि उत्प्रेक्षा में सादृश्य कल्पित होता है, स्वाभाविक नहीं होता। लक्षण में "उपमान उपमेय से भिन्न हो" ऐसा कहने से अनन्वय में इसकी अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वहाँ उपमान-उपमेय भिन्न नहीं होते। "सम्मत" शब्द का प्रयोग करने से उपमादोषों का निराश हो जाता है। "धर्मतः" कहने से श्लेष अलंकार में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वहाँ उपमान-उपमेय का साम्य शब्द के आधार पर वर्णित होता है जबकि उपमा में धर्म के आधार पर। "उपमान के द्वारा उपमेय की समानता वर्णित की जाए" ऐसा कहने से प्रतीप अलंकार की व्यावृत्ति हो जाती है, क्योंकि प्रतीप में उपमेय से उपमान की समानता वर्णित होती है। "उपमान उपमेय में साम्य वाच्य हो" ऐसा कहने पर व्यंग्योपमा का निरास हो जाता है, क्योंकि वहाँ साम्य व्यंग्य होता है, वाच्य नहीं होता। 'एकदा' कहने से जहाँ उपमान-उपमेय का साम्य एक वाक्यगत हो वहीं उपमा होगी, अन्यत्र नहीं। इससे उपमेयोपमा में जहाँ दो वाक्यों का प्रयोग होता है वहाँ इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

यह विद्यानाथ के उपमालक्षण की व्याख्या है। इस लक्षण में दीक्षित ने कई दोष बताये हैं। जब लक्षण में 'साम्यम्' पद के प्रयोग से ही उत्प्रेक्षा की व्यावृत्ति हो जाती है, क्योंकि उसमें सम्भावना होती है, समता नहीं, तब "स्वतः सिद्धेन" इस पद का प्रयोग निरर्थक हो जाता है। पुनश्च, इस पद का प्रयोग करने से कल्पितोपमा में लक्षण अव्याप्त हो जाएगा, क्योंकि वहाँ सादृश्य कल्पित होता है। लक्षण में 'भिन्नेन' पद भी व्यर्थ है। अनन्वय में उपमा की अतिव्याप्ति को भले ही यह रोकता हो, किन्तु जहाँ उपमेय सामान्य रूप है, उपमान

१. चि० मी०, पृ० ४८

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विशेष रूप है और सामान्य-विशेष सम्बन्ध होने से उपमान-उपमेय की भिन्नता नहीं रहती वहाँ उपमा को नहीं होने देगा जबकि वहाँ उपमा का होना अभीष्ट है। ऐसी स्थिति में यह लक्षण अव्याप्त हो जाएगा। वैसे ही 'धर्मत: कहने से शब्दसाम्य का निषेध करके श्लेष का निवारण करना तो ठीक है, किन्तु जहाँ शब्दसाम्य में[१] भी उपमा स्वीकार्य है जैसे "सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशुबिम्बमिव"[२] वहाँ उपमालक्षण की व्याप्ति न हो सकेगी। लक्षण में 'अन्येन' पद भी व्यर्थ है, क्योंकि जब "भिन्नेन" कह दिया तब 'अन्येन' कहने का कोई प्रयोजन नहीं रहता। प्रत्युत 'अन्येन' का अर्थ अप्रकृत भी हो सकता है अर्थात् जहाँ अप्रकृत उपमान से प्रकृत उपमेय का सादृश्य वर्णित हो। तब समुच्चितोपमा में जहाँ उपमान तथा उपमेय दोनों प्रकृत हैं उक्त लक्षण घटित न हो सकेगा। लक्षण में 'एकदा' का प्रयोग करने का अर्थ है कि उपमा एक वाक्य में ही होगी, दो वाक्यों में नहीं। इस तथ्य से उपमेयोपमा में अतिव्याप्ति होने का निवारण किया गया है, क्योंकि उसमें दो वाक्य होते हैं। किन्तु हम देखते हैं कि कहीं दो वाक्यों में भी उपमा हो सकती है जैसे परस्परोपमा। तब लक्षण में 'एकदा' का प्रयोग सर्वथा ही असंगत है।

दीक्षित ने भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण से भी उपमालक्षण को उद्धृत करके उसमें दोष बताये हैं—

प्रसिद्धेरनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः।
भूयोऽवयवसामान्ययोगः सेहोपमा मता ॥[३]

इस लक्षण के अनुसार जब उपमानोपमेय का साधर्म्य आकृतिमूलक हो तभी उपमा होती है। इस परिभाषा को मानने पर गुणक्रियादिगत साधर्म्य की विवक्षा में उपमा न हो सकेगी। अत: भोज का यह लक्षण अव्याप्तिग्रस्त है। दूसरे, इस लक्षण में कहा गया है कि उपमान और उपमेय का साधर्म्य प्रसिद्ध होना चाहिए। किन्तु ऐसा मानने पर यह लक्षण कल्पितोपमा में घटित नहीं होगा।

---

१. रुद्रट ने तीव्र समर्थन किया है कि उपमा में शब्द साम्य भी सम्भव है—
स्फुटमर्थालंकारावेतावुपमासमुच्चयौ किन्तु।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि सम्भवतः ॥

२. चि० मी०, पृ० ४८

३. वही, पृ० ६६

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

रूय्यक का उपमा लक्षण

दीक्षित के अनुसार अलंकारसर्वस्वकार रूय्यक का[1] उपमालक्षण भी दोष-ग्रस्त है। रूय्यक के विचार में जहाँ उपमानोपमेय के असाधारण रूप का भेद और असाधारण रूप का अभेद प्रतिपादित किया गया हो वहाँ उपमा होती है। किन्तु दीक्षित के मत में यह लक्षण अतिव्याप्ति दोषग्रस्त है, क्योंकि यह उपमेयोपमा में भी घटित हो सकता है। दूसरी ओर धरानन्द ने चित्रमीमांसा की व्याख्या सुधा में इस लक्षण को निर्दोष कहा है। उनके विचार में उपमेयोपमा भी उपमा का ही भेद है और यदि उपमा का यह लक्षण उसमें भी चरितार्थ हो जाता है तो कोई क्षति नहीं होती। यदि हम उपमेयोपमा को उपमा का भेद नहीं मानते हैं तो भी रूय्यक के उपमा लक्षण में दोष नहीं आता, क्योंकि उसमें 'साधर्म्यम्' पद एकत्व की विवक्षा को व्यक्त करता है अर्थात् उपमा में साधर्म्य एक वाक्यगत होना चाहिए। अब क्योंकि उपमेयोपमा मे साधम्र्य दो वाक्यों में व्यक्त किया जाता है, रूय्यक के उपमा लक्षण की उसमें अतिव्याप्ति नहीं होती।

इस प्रकार पूर्वाचार्यों के उपमालक्षणों का निराकरण करने के उपरान्त दीक्षित ने उपमा का लक्षण इस प्रकार किया है—

"उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनम् । स्वनिषेधापर्यवसायि । अदुष्टाव्यंग्यत्वविशेषितम् ।"[2]

"जहाँ सादृश्य का वर्णन उपमिति क्रिया को निष्पन्न करे, जहाँ सादृश्य अपने निषेध में परिणत न हो, निर्दोष और वाच्य हो।"

उपमा के भेद

दीक्षित ने पहले उपमा के दो भेद किए हैं:—

(१) पूर्णा और

(२) लुप्ता।

पूर्णा में सादृश्य सात प्रकार का होना है: —

(१) अनुगामिरूप

(२) वस्तुप्रतिवस्तुभाव

---

१. वही, पृ० ६८

उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे वोपमा।

२. वही, पृ० ७४

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(३) बिम्बप्रतिबिम्बभाव,
(४) श्लिष्ट
(५) औपचारिक
(६) समासान्तराश्रित
(७) मिश्रित

लुप्ता में केवल अनुगामिरूप साहश्य होता है। किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ लुप्ता में भी बिम्बप्रतिबिम्ब साहश्य मानते हैं।

अर्थचित्र के निर्माण में वस्तुप्रतिवस्तुभाव और बिम्बप्रतिबिम्बभाव साहश्य का योगदान महत्त्वपूर्ण है। ये दोनों साहश्य अर्थचित्र के उपादान कारण हैं। किन्तु इन दोनों में मौलिक भेद हैं। जहाँ दो धर्मियों में एक ही धर्म का शब्द-भेद से दो बार उपादान हो वहाँ वस्तुप्रतिवस्तुभाव सादृश्य होता है। दूसरी ओर, जहाँ दो धर्मियों में निकट साहश्य होने के कारण अभेद प्रतीति हो, किन्तु पृथक्-पृथक् शब्दों से धर्मों का प्रतिपादन किया जाय वहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभाव साहश्य होता है। अन्तर इस बात पर निर्भर करता है कि उपमान-उपमेय में जो साधारण धर्म है वह वास्तव में भिन्न है या नहीं। यदि वह वास्तव में भिन्न है, किन्तु अभिन्न प्रतीत होता है तो वहाँ बिम्ब-प्रतिबिम्ब होगा। किन्तु यदि वह वास्तव में अभिन्न है, किन्तु शब्दभेद से दो बार निर्दिष्ट हुआ है तो वहाँ वस्तु-प्रतिवस्तुभाव होगा। निम्न उदाहरण से यह अन्तर स्पष्ट हो जाएगा—

वस्तुप्रतिवस्तुभाव साहश्य

सा तेन जगृहे साध्वी हठात् साध्वीसकम्पिता।
वानरेणातिलोलेन वाताधूतेव वल्लरी ॥[1]

"भय से कम्पमान पतिव्रता सीता को रावण ने इस प्रकार पकड़ा जैसे कोई चंचल वन्दर वायु से आन्दोलित लता को पकड़ता है।"

यहाँ दोनों धर्मियों (सीता और लता) में एक ही 'कम्पन' धर्म है, किन्तु वह 'कम्पित' और 'अवधूत' इन दोनों भिन्न-भिन्न शब्दों से उच्चरित हुआ है। अतः यहाँ वस्तु-प्रतिवस्तुभाव साहश्य है।

---

१. चि० मी०, पृ० ८२

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव सादृश्य—

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः
क्लृप्तांगरागो हरिचन्दनेन ।
आभाति बालातपरक्तसानुः
सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥[१]

"कन्धे पर हार पहने हुआ, हरिचन्दन के अंगराग से विभूषित पाण्ड्य देश का यह राजा इस प्रकार सुन्दर लग रहा है जैसे झरने के प्रवाह से युक्त और सूर्य के बालातप से अरुणाभ तलहटियों वाला हिमालय पर्वत सुशोभित हो रहा हो।"

यह रघुवंश में[२] इन्दुमती स्वयंवर का वर्णन प्रसंग है। इसमें पाण्ड्य देश के राजा का चित्र चित्रित हुआ है। यहाँ हरिचन्दन का बालातप से और कण्ठ हार का झरने से बिम्बप्रतिबिम्बभाव निर्दिष्ट हुआ है।

यहाँ इस बात को समझ लेना भी आवश्यक है कि वस्तुप्रतिवस्तुभाव और बिम्बप्रतिबिम्बभाव सादृश्य के अर्थचित्रों में सादृश्य शब्दोपात्त होता है। अतः धर्मलुप्ता उपमा में, जहाँ सादृश्य शब्दोपात्त नहीं होता, बिम्बप्रतिबिम्बभाव या वस्तुप्रतिवस्तुभाव सादृश्य का प्रश्न ही नहीं उठता है।

चित्रमीमांसा में[३] दीक्षित ने उपमा के अनेक भेदों का वर्णन किया है। इनमें से कुछ भेद अन्य काव्यशास्त्रों में भी मिलते हैं। किन्तु कुछ भेद ऐसे भी हैं जो अन्यत्र कहीं नहीं पाये जाते। इनमें से यहाँ हम तीन भेदों का सोदाहरण विवरण प्रस्तुत करना उचित समझते हैं—

(१) जहाँ उपमा स्वयं में विश्रान्त हो जाए।
(२) जहाँ वह किसी प्रतिपादित अर्थ की पुष्टि में सहायक हो।
(३) जहाँ वह व्यंग्य प्रधान होकर वस्तु, अलंकार या रस की उपस्कारक बने।

पहले प्रकार के उदाहरण में—

विस्रब्धघातदोषः स्ववधाय खलस्य वीरकोपकरः ।
वनतरुभंगध्वनिरिव हरिनिद्रातस्करः करिणः ॥[४]

---

१. चि० मी०, पृ० ५५
२. रघु, ६.६०
३. चि० मी०, पृ० ११४-११५
४. हर्षचरित, ६

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

"शूरवीरों को कुपित कर देने वाला, दुष्टजन के द्वारा किया गया विश्वास-घात स्वयं उसी (दुष्टजन) का नाश कर देता है। जैसे सिंह को नींद से जगाने वाले हाथी के द्वारा तोड़े गये वन-तरु की ध्वनि स्वयं हाथी का ही नाश कर देती है।"

पूर्वार्ध में प्रस्तुत सामान्य, उत्तरार्ध में अप्रस्तुत विशेष का उपमान है। यहाँ उपमा स्वयं में विश्रान्त हो जाती है तथा किसी दूसरे अर्थ की सहायक नहीं होती है।

दूसरे प्रकार के उदाहरण में—

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य
हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः ॥[1]

"अनेक रत्नों की उत्पत्ति-भूमि होने के कारण उसमें बर्फ का होना भी उप (हिमालय) के सौभाग्य का विनाश न कर सका। अनेक गुणों के होने पर एक दोष उसमें ऐसे छिप जाता है जैसे चन्द्रमा की किरणों में कलङ्क।"

यहाँ उत्तरार्ध में, विशेष उपमानवाक्य 'इन्दोः किरणेष्विवाङ्कः' सामान्य उपमान 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जति' के अर्थ की पुष्टि कर रहा है। फिर दोनों उपमान पूर्वार्ध में विशेष उपमेय की पुष्टि करते हैं।

तीसरे प्रकार के उदाहरण में—

पश्यात्र नलिनीपत्रे बलाका परिदृश्यते।
हरिन्मणिमये पात्रे शुक्तिकेव प्रतिष्ठिता ॥[2]

"देखो, यहाँ कमल के पत्ते पर बैठी हुई बगुली इस तरह दिख रही है जैसे मरकत मणि के बर्तन में किसी ने सीप रख दी हो।"

---

१. कुमारसम्भव, १.३ तथा चि० मी०, पृ० ५१

२. चि० मी०, पृ० २१६। यह श्लोक काव्य प्रकाश (द्वितीय उल्लास) में उल्लिखित इस प्राकृत गाथा का रूपान्तर है–

उअ णिच्चलणिप्पंदा भिसिणी पत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मल-मरगअ-भाऊण परिट्ठिआ संख सुत्तिव्व ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(१) किसी कामुक ने अपनी प्रेयसी के प्रति मरकत पात्र में प्रतिष्ठित शुक्ति के सादृश्य को लेकर पद्मपत्र पर बैठी हुई बलाका का वर्णन किया है। इससे उस प्रदेश की निर्जनता रूप वस्तु ध्वनित होती है। यहाँ वस्तुध्वनि है।

(२) "हम दोनों के लिए यह उचित संकेत स्थान है।" इस सूक्ष्म अर्थ के प्रकाशन से यहाँ सूक्ष्म अलंकार है। इसलिए अलंकार ध्वनि है।

(३) यहाँ कामुक और उसकी प्रेयसी के रति भाव की अभिव्यक्ति हुई है। इसलिए रसध्वनि भी है।

किन्तु दीक्षित के वैचित्र्यमात्रविश्रान्त, उक्तार्थोपपादनपर और व्यंग्यप्रधान इन तीन उपमा भेदों को पण्डितराज जगन्नाथ नहीं मानते हैं।

उपमा और उपमाध्वनि—

दीक्षित ने व्यंग्य प्रधान उपमा को उपमालंकार का प्रकार कहा है। किन्तु वास्तव में हम उपमाध्वनि को उपमालंकार का प्रकार नहीं कह सकते, क्योंकि ध्वनि अलंकार्य है, अलंकार नहीं है। उपमा के लक्षण में दीक्षित स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। तब यह तथ्य विचारणीय है कि दीक्षित ने उपमाध्वनि को उपमा का प्रकार कैसे माना ? वृत्तिवार्तिक के अभिधा प्रकरण में जहाँ दीक्षित शब्द शक्ति के प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थों को वाच्य मानते हैं, वहाँ दोनों अर्थों के सम्बन्ध जोड़ने वाले अलंकार को व्यंग्य माना है। दूसरी ओर, अलंकारों के लक्षण में 'अव्यंग्य' विशेषण देकर दीक्षित ने अलंकार और व्यंग्य का अन्तर भी स्वीकार किया है और शब्दशक्तिमूल अलंकारध्वनि को अलंकार से पृथक् माना है। इस स्थिति में हम उपमाध्वनि को उपमा का प्रकार कैसे कह सकते हैं ?

लुप्तोपमा के प्रसंग में अप्पय दीक्षित ने केवल आठ भेदों का सोदाहरण वर्णन किया है। तदुपरान्त मम्मट आदि प्रभृतियों के २५ उपमा भेदों का भी उल्लेख किया है। किन्तु व्याकरण शास्त्र के अति प्रपंच के कारण भेद-प्रकल्पन से अरुचि ही प्रकट की है।[1]

---

१. चि० मी०–एवमयं पूर्णालुप्ताविभागो वाक्यसमासप्रत्ययविशेषगोचरतया शब्दशास्त्र-व्युत्पत्तिकौशलप्रदर्शनमात्रप्रयजनो नातीवालंकारशास्त्रे व्युत्पाद्यतामर्हति।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

उपमेयोपमा

अर्थचित्रोपस्कारक अलंकारों में उपमेयोपमा का दूसरा स्थान है। प्राचीन आचार्यों ने उपमेयोपमा का लक्षण इस प्रकार किया है—

उपमानोपमेयत्वं द्वयोः पर्यायतो यदि ।
उपमेयोपमा सा स्याद् विविधैषा प्रकीर्तिता ॥[१]

"जहाँ दो वस्तुएँ पर्याय से (युगपत् नहीं परस्पर) उपमानोपमेय बनें ।"

इस लक्षण में कहा गया है कि दो वस्तुएँ एक दूसरे की युगपत् उपमानोपमेय नहीं होनी चाहिएं। किन्तु हम देखते हैं कि जहाँ दो वस्तुएँ युगपत्, एक दूसरे की, उपमानोपमेय बनती हैं वहाँ भी उपमेयोपमा हो सकती है। जैसे रघुवंश के पाँचवें सर्ग में—

त्वद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्
सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे ।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्त—
श्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरञ्च पद्मम् ॥[२]

इस पद्य में रघु के नेत्र और कमल को युगपत् एक ही वाक्य में एक दूसरे का एक उपमानोपमेय बताया गया है। ऐसी स्थितियों में प्राचीनों के उपमानोपमेय लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है।

दूसरी आपत्ति सादृश्य से सम्बन्धित है। दीक्षित के अनुसार उपमेयोपमा में केवल दो प्रकार के सादृश्य होने चाहिए—

(१) अनुगामी, जो उत्पत्ति से लेकर विनाश तक स्थायी रहे।

(२) वस्तुप्रतिवस्तुभाव, जहाँ दो धर्मियों में एक ही धर्म का शब्दभेद से दो बार उपादान हो। किन्तु हम देखते हैं कि प्राचीनों का यह लक्षण ऐसे पद्यों में घटित हो जाता है जहाँ दोनों सादृश्यों से भिन्न कोई अन्य सादृश्य हो। जैसे–

रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसन्निभैः ।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम् ॥[३]

---

१. चि० मी०, पृ० १३३

२. वही, पृ० १३६

३. रघुवंश ४. २६, चि० मी० पृ० ५३

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

"रथ के पहियों द्वारा उद्धूलित रेणु से उसने आकाश को भूतल बनाया और मेघकाय हाथियों से भूतल को आकाश।"

यहाँ पृथ्वी और आकाश के धर्म भिन्न-भिन्न हैं। एक स्थान पर हाथी है, दूसरे स्थान पर मेघ है। इसलिए यहाँ बिम्बप्रतिबिम्ब सादृश्य है और परस्परोपमा है।

उपमेयोपमा में एक धर्माश्रय से वर्णित साम्य दो सदृश वस्तुओ तक ही सीमित रहता है, तृतीय सदृश वस्तु को नहीं छूता है। जैसे कि हम कहते हैं कि तेरा मुख चन्द्रमा के समान है, फिर कहते हैं कि चन्द्रमा तेरे मुख के समान है। तात्पर्य यह है कि मुख और चन्द्रमा के समान कोई तीसरा संसार में है ही नहीं उपमेयोपमा में इस तृतीय सदृश निषेध का होना आवश्यक है। किन्तु "रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैः" इस पद्य में तृतीय सदृश निषेध प्रतीत नहीं होता। इसलिए यहाँ उपमेयोपमा नहीं है। किन्तु प्राचीनों का उपमेयोपमा लक्षण यहाँ घटित हो जाएगा। अतः यह लक्षण अतिव्याप्तिग्रस्त है।

दीक्षित ने उपमेयोपमा का लक्षण इस प्रकार किया है—

अन्योन्येनोपमा बोध्या व्यक्त्या वृत्त्यन्तरेण वा।
एकधर्माश्रया सा स्यात्सोपमेयोपमा स्मृता ॥[1]

"जहाँ उपमान और उपमेय दोनों किसी एक ही वाच्य अथवा व्यंग्य धर्म के आधार पर एक दूसरे के उपमानोपमेय हों।"

उपमेयोपमा की अवस्थाएँ—

(क) साधर्म्य के व्यंग्य होने पर—

खमिव जलं जलमिव खं
हंसइव चन्द्रश्चन्द्र इव हंसः।
कुमुदाकारास्तारा-
स्ताराकाराणि कुमुदानि ॥[2]

"जल आकाश के समान है, आकाश जल के समान है। चन्द्रमा हंस के समान है, हंस चन्द्रमा के समान है। तारागण कुमुदिनी की तरह सुशोभित हैं

१. चि० मी०, पृ० १४०
२. वही, पृ० ४६, दे० सुधाव्याख्या

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

और कुमुदिनियाँ तारागण की तरह सुशोभित हैं। यह शरद् ऋतु का वर्णन है। यहाँ साधारण धर्म निर्मलता है जो कि व्यंजना गम्य है।[१]

(ख) साधर्म्य के वाच्य होने पर—

सुगन्धि नयनानन्दि मदिरामदपाटलम् ॥
अम्भोजमिव ते वक्त्रं त्वद्वक्त्रमिव पङ्कजम् ॥[२]

"तेरा मुख कमल के समान है, कमल तेरे मुख के समान है। दोनों में सुगन्ध है। दोनों नेत्रों को तृप्त करते हैं। दोनों मदिरा के मद से (नेत्र के पक्ष में) अथवा मदिरामद के समान (कमल के पक्ष में) लाल हैं।"

यहाँ कमल और मुख में सुगन्ध आदि अनुगामी धर्म वाच्य हैं।

(ग) वस्तु प्रतिवस्तुभाव में उपयोमेपमा—

सच्छायाम्भोजवदनाः सच्छायवदनाम्बुजाः।
वाप्योऽङ्गना इवाभान्ति यत्र वाप्य इवांगनाः ॥[3]

"यहाँ बावड़ियाँ कमलरूपी मुखों से महिलाओं की भाँति और महिलाएँ बावड़ियों की भाँति सुशोभित हैं।"

यहाँ शोभा धर्म वस्तु–प्रतिवस्तुभाव से प्रतिपादित हुआ है।

अनन्वय

अर्थचित्रोपस्कारक अलंकारों में अनन्वय का तीसरा स्थान है। इसमें एक ही पदार्थ की उपमा स्वयं उसी से की जाती है।

प्राचीन आचार्य अनन्वय का लक्षण इस प्रकार करते हैं–

एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयो मतः।[४]

"जहाँ एक ही पदार्थ उपमान और उपमेय दोनों हो।" किन्तु यह लक्षण समुच्चय में भी घट जाने से अतिव्याप्ति दोषग्रस्त है। जैसे–

---

१. दीक्षित का कथन कि उपमेयोपमा में सादृश्य व्यंग्य भी हो सकता है विचारणीय है।
२. काव्यादर्श, ३. ३८, चि० मी० १३५
३. रुय्यक: अलंकारसर्वस्व, चि० मी० १३५
४. चि० मी०, पृ० १४७

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं
निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः
धर्मार्थकामेषु सभां प्रपेदे
यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम् ।।[1]

"पिता के आदेश से राम वन गये। वहाँ उन्होंने दुःख झेला। फिर वे घर को लौटे। तब जैसे वे धर्म, अर्थ, काम के प्रति वैसे ही अपने भाइयों के साथ समान व्यवहार से रहने लगे।"

यहाँ राम ही उपमान है, राम ही उपमेय है। क्योंकि यहाँ रामभिन्न, राम-सदृश के निवारण में तात्पर्य नहीं है इसलिये यहाँ समुच्चयोपमा है। किन्तु प्राचीनों का अनन्वय लक्षण भी इसमें घट जाने से यहाँ अतिव्याप्ति दोष है। दूसरे, "एक ही उपमानोपमेयभाव" ऐसा कहने से लक्षण चरितार्थ नहीं होगा, क्योंकि जहाँ अनुगामी धर्म भिन्न-भिन्न हैं, वहाँ भी लक्षण की अति-व्याप्ति हो जाती है। जैसे—

उपाददे तस्य सहस्ररश्मि—
स्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम्।
स तद्दुकूलादविदूरमौलि—
र्बभौ पतद्गङ्ग इवोत्तमांगे ।।[2]

"सूर्य ने त्वष्टा द्वारा नवनिर्मित छत्र उन्हें (शिवको) अर्पित किया। छत्र का रेशमी वस्त्र शिव के मस्तक को छू रहा था और वे ऐसे लग रहे थे जैसे उनके सिर पर गंगा गिर रही हो।"

यहाँ शिव ही उपमान है और शिव ही उपमेय है। लेकिन श्वेतातपत्र के रेशमी वस्त्र का मस्तक को छूना एक बात है और गंगा जल का मस्तक को छूना दूसरी बात है। ऐसे स्थलों में प्राचीनों का अनन्वय लक्षण अतिव्याप्त हो जायगा जो कि अभीष्ट नहीं है।

दीक्षित का अनन्वय लक्षण इस प्रकार है—

स्वस्य स्वेनोपमा या स्यादनुगाम्येकधर्मिका।
अन्वर्थनामधेयोऽयमनन्वय इतीरितः ।।[3]

---

१. रघुवंश, १४. २१ चि० मी०, पृ० १४८
२. कुमारसम्भव ७. ४१, चि० मी०, पृ० १४६
३. चि० मी०, पृ० १५०

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

"जहाँ एक ही पदार्थ की उपमा उसी से दी जाये और वह केवल अनुगामी धर्म के आधार पर हो।"

दीक्षित के इस अनन्वय लक्षण में कोई दोष नहीं है। 'वही पदार्थ उपमान और उपमेय हो।' ऐसा कहने पर उपमेयोपमा और रसनोपमा का निराकरण हो जाता है, क्योंकि वहाँ दो या अधिक पदार्थ उपमान-उपमेय बनते हैं।

"एक ही अनुगामी धर्म के द्वारा एक ही पदार्थ की स्वयं उसी से तुलना की जाये" ऐसा कहने पर उन स्थितियों से अतिव्याप्ति का निराकरण हो जाता है जहाँ अनुगामी धर्म एक नहीं है।"

अनन्वय अलंकार और अनन्वय व्यंग्य में अन्तर

अनन्वय अलंकार और अनन्वय व्यंग्य में भेद-स्पष्टीकरण हेतु दीक्षित एक पद्य उद्धृत करते हैं—

अद्य या मम गोबिन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः॥[1]

"गोविन्द ! आज आप मेरे घर आये तो मुझे आनन्द मिला। जब कुछ समय उपरान्त आप पुनः मेरे घर आओगे तो पुनः मुझे वही आनन्द मिलेगा।"

इस कथन का व्यंग्यार्थ यह हुआ कि आपके आगमन से उद्भूत आनन्द की तुलना किसी दूसरे के आगमन से उत्पन्न हुए आनन्द से नहीं हो सकती। यहाँ अन्यसदृशनिषेध व्यंग्य है। इसलिए यहाँ व्यंग्यअनन्वय हुआ। ऐसे स्थलों में भी अनन्वय अलंकार अतिव्याप्त न हो, इसलिए अनन्वय के लक्षण में अव्यंग्य विशेषण को जोड़ दिया गया है।

किन्तु, इस पद्य में पण्डितराज जगन्नाथ व्यंग्य नहीं मानते हैं। उनका कथन है कि श्रीकृष्ण के दर्शन का आनन्द अवर्णनीय है। इसकी तुलना किसी अन्य आनन्द के साथ नहीं हो सकती। यह एक लोक प्रसिद्ध तथ्य है। इसमें किसी प्रकार के व्यंग्य की कल्पना करना आवश्यक नहीं है। पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार व्यंग्य अनन्वय का उदाहरण इस प्रकार है—

---

१. चि० मी०, पृ० १५३

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

त्वां कृत्वोपरतो मन्ये नूनं धाता स विश्वकृत् ।
नहि रूपोपमा त्वन्या तवास्ति जगतीतले ॥[१]

"मेरा विचार है कि स्रष्टा ने तेरा निर्माण करने के पश्चाद् विश्वनिर्माण का कार्य समाप्त कर दिया । तभी तो विश्व में तेरे सदृश कोई सुन्दरी नहीं है ।"

यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है, किन्तु भेदगर्भित सादृश्य का निषेध व्यंग्य है। इसलिए यहाँ व्यंग्यअनन्वय है ।

स्मरण

अर्थचित्रोपस्कारक अर्थालंकारों में चौथा अलंकार स्मरण है । दीक्षित ने सर्वप्रथम प्राचीन आचार्यों का स्मरण लक्षण उद्धृत किया है—

स्मृतिः सादृश्यमूला या वस्त्वन्तरसमाश्रया ।
स्मरणालंकृति, सा स्यादव्यंग्य त्वविशेषिता ॥[२]

"जहाँ सादृश्य के आधार पर प्रकृत या अप्रकृत पदार्थों की स्मृति होने लगे, किन्तु वह स्मृति व्यंग्य न हो । जैसे—

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं
न स रुचिरकलापं वाणलक्ष्यीचकार ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे
रतिविगलितवन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥[३]

"अश्व पर सवार हुए राजा ने पास हीं उछलते-कूदते, सुन्दर पूंछ वाले मोर को अपने वाण का लक्ष्य बनाया, क्योंकि उसे देखकर उसको रंगबिरंगे फूलों से सज्जित प्रेमक्रीड़ा में बिखरे हुए प्रिया के सुन्दर बालों की याद हो आयी ।"

मोर की पूंछ को देखकर राजा को अपनी प्रिया के केशपाश का स्मरण हो आया । यहाँ स्मृति सादृश्य पर आधारित है और व्यंग्य न हो कर वाच्य है ।

किसी विचित्र वस्तु को देखकर तत्सदृश वस्तु का स्मरण आने पर ही यह अलंकार होता है, अन्यथा नहीं । जैसे—

१. चि० मी०, पृ० १५४
२. वही, पृ० १५६
३. रघुवंश, ९, ६७, चि० मी०, पृ० १५६

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

दिव्यानामपि कृतविस्मयां पुरस्ता—
दम्भस्तः स्फुरदरविन्दचारुहस्ताम् ।
उद्वीक्ष्य श्रियमिव काश्चिदुत्तरन्ती–
दस्मार्षीज्जलनिधिमन्थनस्य शौरिः ।।[1]

"जिसका हाथ चंचल कमल से सुशोभित था और जिसका सौन्दर्य देवताओं को भी चकित कर रहा था ऐसी जल से बाहर आती हुई, लक्ष्मी के समान सुन्दर किसी युवती को सामने देखकर श्रीकृष्ण को समुद्र-मन्थन की स्मृति आयी।"

यहाँ सामने किसी युवती को देखकर श्रीकृष्ण को उस युवती के सदृश शोभा वाली लक्ष्मी का स्मरण हो आता है। पुनश्च, उससे समुद्र-मन्थन की स्मृति हो आती है। इस प्रकार परम्परा सम्बन्ध से स्मृति होने पर भी दीक्षित स्मरण अलंकार मानते हैं। यहाँ वैचित्र्य ही चित्रालंकार का आधायक है। किन्तु, दीक्षित कहीं वैचित्र्यहीन स्थितियों में भी स्मरण अलंकार मानते हैं। जैसे—

पंकजं पश्यतः कान्तामुखं मे गाहते मनः ।[2]

"कमल को देखते हुए मेरे मन में प्रिया के मुख की याद हो आती है।"

यहाँ वैचित्र्य न होने पर भी दीक्षित ने स्मरणालंकार माना है। किन्तु, यदि स्मृति व्यंग्य हो तब स्मरणालंकार नहीं होता है। जैसे–

सौमित्रे ननु सेव्यतां तरुतलं चण्डांशुरुज्जृम्भते
चण्डांशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति ।
वत्सैतद्विदितं कथं नु भवता धत्ते कुरंग यतः
क्वासि प्रेयसि हा कुरंगनयने चन्द्रानने जानकि ।।[3]

"राम—लक्ष्मण ! तुम वृक्ष की छाया में आ जाओ, सूर्य बहुत तप रहा है।
लक्ष्मण— रात में सूर्य कहाँ ? यह तो चन्द्रमा उदय हुआ है।
राम —तुझे कैसे पता लगा कि यह चन्द्रमा है, सूर्य नहीं।
लक्ष्मण—क्योंकि इसके भीतर हिरन है।
राम —हा मृगनयनी ! चन्द्रमुखी ! प्रिया सीता ! तुम कहाँ हो ?"

---

१. शिशुपालवध, ८. ६४, चि० मी०, पृ० १५६
२. कुवलयानन्द, पृ० २६
३. महानाटक, ४, २३, चि० मी०, पृ० १५७

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यह विरहातुर राम की उक्ति है। यहाँ चन्द्रमुखी, मृगलोचना सीता की स्मृति व्यंग्य है, वाच्य नहीं। अतः यहाँ स्मरण अलंकार नहीं है। 'स्मरणध्वनि' है।

रूपक

अर्थचित्रोपस्कारक अर्थालंकारों में रूपक के विषय में आचार्यों में तीव्र मतभेद है। चित्रमीमांसा में रूपक के विवेचन में सर्वप्रथम दीक्षित ने प्राचीनों का रूपकलक्षण उद्धृत किया है—

आरोपविषस्य स्यादतिरोहितरूपिणः।
उपरञ्जकमारोप्यमाणं तद्रूपकं मतम्॥[१]

"जहाँ आरोप्यमाण विषयी (चन्द्रादि) आरोपविषय (मुखादि) को अपने रंग में रंग दे।"

"विषयी विषय को अपने रंग में रंग दे" यह इसलिए कहा गया है कि "उत्प्रेक्षा में जहाँ विषयी विषय को अपने रंग में नहीं रंग देता" वहाँ रूपक लक्षण अतिव्याप्त न हो। किन्तु, वास्तव में, उत्प्रेक्षा में भी विषयी और विषय में अभेद प्रतिपत्ति वनी रहती है। अतः प्राचीनों का यह रूपकलक्षण वहाँ भी घट जायेगा।

लक्षण में 'अ–तिरोहितरूपिण' अर्थात् जहाँ आरोप विषय का तिरोधान न किया जाय, ऐसा कहने से अपह्नुति में अतिव्याप्ति को रोका गया है। किन्तु, वास्तव में अपह्नुति में भी विषय का तिरोधान नहीं होता, केवल निषेध होता है। साथ ही विषयी का जो आरोप किया जाता है वह कल्पित ही होता है।

प्राचीनों का यह लक्षण निदर्शना में अतिव्याप्त हो जाता है, क्योंकि वहाँ भी ताद्रूप्यारोप पाया जाता है।

इस प्रकार प्राचीनों के रूपक लक्षण में दोष दिखाकर दीक्षित ने भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण से रूपक का लक्षण उद्धृत किया है—

यदोपमानशब्दानां गौणवृत्तिव्यपाश्रयात्।
उपमेये भवेद्वृत्तिस्तदा तद्रूपकं विदुः॥[२]

"जहाँ उपमान वाचक शब्दों का गौणीलक्षणा द्वारा उपमेय के अर्थ में प्रयोग हो।" जैसे—"मुखं चन्द्रः" कहने में गौणी सारोपा लक्षणा होती है। और

१. चि॰ मी॰, पृ॰ १६१
१. वही, पृ॰ १६६

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मुख को देखकर केवल "चन्द्र" कहने में गौणी साध्यवसाना लक्षणा होती है। इस प्रकार भोज के अनुसार गौणी वृत्ति के आश्रय में रूपक अलंकार होता है।

किन्तु, भोज का यह रूपक लक्षण एक ओर अतिशयोक्ति में व्याप्त हो जायेगा तथा दूसरी ओर, व्यंग्य रूपक में घटित नहीं होगा। जैसे—

सेतुः शैलैस्त्वया बद्धः पूर्वं जेतुं दशाननम्।
कं जेतुमद्य बध्नासि यशश्चन्द्रोपलैः प्रभो॥
चिराद् यत्कौतुकाविष्टं कल्पवृक्षमुदीक्षितुम्।
तन्मे सफलमद्यासीन्नेत्रं त्वय्यवलोकिते॥[1]

"रावण को जीतने के लिए आपने समुद्र पर शिलाओं का पुल बाँधा था। अब आप चन्द्रोज्ज्वल कीर्तिशिलाओं से किसे बाँधने जा रहे हो।"

"मेरी आँखें जिस कल्पवृक्ष को देखने के लिए चिरकाल से लालायित हैं आज वे आपको देखकर तृप्त हो गयी हैं।"

पहले पद्य में, गौणी वृत्ति का आश्रयीभूत राम व्यंग्य है। दूसरे पद्य में, कल्पवृक्ष पद प्रसिद्ध कल्पवृक्ष का ही वाचक है, आरोप विषय राजा का लक्षक नहीं। ऐसे स्थलों में, जहाँ गौणी लक्षणा नहीं है भोज का रूपक लक्षण घटित नहीं हो सकता।

रूपक के सम्बन्ध में कुछ अन्य बातें भी विचारणीय हैं। प्राचीनों के लक्षण से प्रतीत होता है कि जहाँ गौणी सारोपा लक्षणा होती है वहीं रूपक होता है। किन्तु, दीक्षित के अनुसार शुद्धा सारोपा लक्षणा भी रूपक का विषय है। इसका उदाहरण दीक्षित इस प्रकार देते हैं:—

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलंकृता॥[2]

"तब कामिनी के कपोल सदृश धवल, नयनानन्द दायक चन्द्रमा ने पूर्व दिशा को अलंकृत किया।"

यहाँ चन्द्र (कारण) पर नेत्रानन्द (कार्य) का आरोप किया गया है। अतः कार्यकारण सम्बन्ध होने पर शुद्धा सारोपा लक्षणा है। दीक्षित के अनुसार

---

१. चि० मी०, पृ० १६८

२. महाभारत, द्रोणपर्व ८.४०८, चि० मी०, पृ० १६८

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यहाँ रूपक अलंकार है, किन्तु प्राचीनों के रूपक लक्षणानुसार रूपक नहीं हो सकता।

दूसरी ओर, प्राचीनों का रूपक लक्षण "गौर्वाहीकः" जैसे गौणी सारोपा लक्षणा के स्थलों में भी घटित हो जायेगा। इसलिए दीक्षित प्राचीनों के रूपक-लक्षण को स्वीकार नहीं करते हैं। इसी प्रकार "उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते।" "तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः" ये दो अन्य लक्षण भी अतिशयोक्ति में अतिव्याप्त हो जाने के कारण ग्राह्य नहीं हैं।

दीक्षित का रूपक लक्षण

विम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते।
उपरञ्जकतामेति विषयी रूपकं तदा॥[1]

जहाँ विम्बप्रतिविम्ब रहित, शब्दतः निर्दिष्ट अनिह्नुत विषय (मुख आदि) को विषयी (चन्द्र आदि) अपने रंग में रंग दे।"

दीक्षित के इस लक्षण में सभी विशेषण सार्थक हैं। 'बिम्बाविशिष्टे' का तात्पर्य है कि जहाँ विषय और विषयी में विम्बप्रतिविम्बभाव न हो, क्योंकि विम्बप्रतिविम्बभाव होने पर निदर्शना हो जाती है। 'निर्दिष्टे' का तात्पर्य है कि विषय (मुख आदि) का शब्दतः निर्देश हो। शब्दतः निर्देश न होने पर अतिशयोक्ति में लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायेगी। 'अनिह्नुते' यह विशेषण निषेधपरक अपह्नुति में लक्षण की अतिव्याप्ति को रोकता है। 'उपरञ्जकताम्' का अर्थ है कि आरोप्यमाण विषयी (चन्द्र आदि) और आरोपविषय (मुख आदि) में कल्पित ताद्रूप्य घटित हो जाये। इससे इस लक्षण की ससन्देह, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, परिणाम और भ्रान्तिमान् में अतिव्याप्ति नहीं होती।

रूपक के लक्षण में कहा गया है 'विम्बाविशिष्टे अर्थात् विषय और विषयी में विम्बप्रतिविम्बभाव न हो। किन्तु, पण्डितराज जगन्नाथ के मतानुसार रूपक में भी विम्बप्रतिविम्बभाव हो सकता है। क्योंकि यदि हम विम्बप्रतिविम्ब के अभाव में ही रूपक मानें तो सावयव रूपक में जहाँ विषय और विषयी के धर्मों में, परस्पर सादृश्य के कारण, बिम्बप्रतिबिम्बभाव पाया जाता है यह लक्षण घटित न हो सकेगा। जैसे—

---

१. चि० मी०, पृ० १७१

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी-
न्यन्तर्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम् ।
द्वीपाद् द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले
न्यस्तं सिद्धाञ्जनपरिमलं लाञ्छनस्यच्छलेन ॥[१]

"शरीर पर चाँदनी रूपी भस्म लीपकर उज्ज्वल बनी हुई, तारों की अस्थियाँ पहने हुए, अन्तर्धान में अनुरक्त यह रात्रियोगिनी चन्द्रमा रूपी खप्पर में कलंक के बहाने सिद्धाञ्जन का चूर्ण रखकर द्वीप-द्वीप में घूम रही है ।

यहाँ सावयव रूपक है । रात्रि के ज्योत्स्ना आदि अवयवों पर कापालिकी के भस्म आदि अवयवों का आरोप हुआ है । यहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभाव स्पष्ट है । बिम्बप्रतिबिम्बभाव मानने पर भी निदर्शना में रूपक की अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि रूपक और निदर्शना के क्षेत्र अलग-अलग हैं । निदर्शना में पहले दो पदार्थों का परस्पर ऐक्यारोप होकर फिर उनके अवयवों का परस्पर अन्वय होता है, किन्तु, रूपक में पहले दो अवयवियों के अवयवों का परस्पर ताद्रूप्य होकर फिर अवयवियों का ताद्रूप्यारोप होता है । दूसरे, रूपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत में सामानाधिकरण्य शाब्द होता है जब कि निदर्शना में वह आर्थ होता है । इस प्रकार रूपक में बिम्बप्रतिबिम्बभाव सादृश्य मानने पर भी निदर्शना में रूपक लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती । तभी तो पण्डितराज जगन्नाथ ने दीक्षित के 'बिम्बाविशिष्टे' की आलोचना करते हुए कहा है: "यदपि रूपके बिम्बप्रतिबिम्ब-भावो नास्तीत्युक्तं तदपि भ्रान्त्यैव ।"[२] अपने पक्ष के समर्थन में वे अलंकार-सर्वस्व के व्याख्याकार जयद्रथ को उद्धृत करते हैं ।[३]

किन्तु, यहाँ एक विचारणीय प्रश्न है: क्या वास्तव में दीक्षित रूपक में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का निषेध करते हैं । इस प्रसंग में दीक्षित के व्याख्याकार गंगाधर वाजपेयी ने "बिम्बाविशिष्टे" की व्याख्या इस प्रकार की है: निदर्शना की तरह रूपक में बिम्बवैशिष्ट्य हो यह आवश्यक नहीं, किन्तु विषयीरूपेण विषय का रञ्जन हो, यह आवश्यक है । इस प्रकार के व्याख्यान से स्पष्ट हो जाता है कि

---

१. चि० मी०, पृ० ११७

२. रसगङ्गाधर, पृ० ३०१

३. पण्डितराज ने जयद्रथ की अलंकारसर्वस्वविमर्शिनी से 'कन्दर्पद्विपकर्णकम्बु'-इस पद्य को उद्धृत करते हुए रूपक में बिम्बप्रतिबिम्बभाव माना है।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

दीक्षित रूपक में भी किसी न किसी प्रकार का बिम्बप्रतिबिम्बभाव मानते हैं। इस स्थिति में पण्डितराज के आक्षेप का कोई महत्त्व नहीं रहता है।[1]

परिणाम

अर्थचित्रोपस्कारक अलंकारों में परिणाम का भी महत्त्व न्यून नहीं है। इसके विवेचन में सर्वप्रथम दीक्षित अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक के 'परिणाम' लक्षण को उद्धृत करते हैं—

आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः।[2]

"जहाँ आरोप्यमाण विषयी (चन्द्र आदि) आरोप विषय (मुख आदि) का उपयोगी हो।" जैसे—

एतान्यवन्तीश्वरपारिजात—
जातानि तारापतिपाण्डुराणि।
सम्प्रत्यहं पश्यत दिग्वधूनां
यशःप्रसूनान्यवतंसयामि ॥[3]

"अवन्तीश्वर रूपी कल्पवृक्ष के चन्द्रोज्ज्वल कीर्तिपुष्पों को लेकर मैं दिग्वधुओं के पहनने के लिए कर्णाभूषण बनाने जा रहा हूँ।"

रुय्यक के विचार में यहाँ रूपक अलंकार है, किन्तु रुय्यक का परिणाम लक्षण भी इसमें घटित हो जाता है, क्योंकि आरोप्यमाण प्रसून 'अवतन्स' क्रिया के उपयोगी हैं।

प्रस्तुत लक्षण रूपक में ही नहीं, भ्रान्तिमान्, अपह्नुति, अतिशयोक्ति और अनुमान में भी अतिव्याप्त हो जाता है, क्योंकि इनमें भी आरोप्यमाण विषयी आरोप विषय का उपयोगी है।

भ्रान्तिमान् में अतिव्याप्ति—

भिन्नेषु रत्नकिरणैः किरणेष्विहेन्दो-
रुच्चावचैरुपगतेषु सहस्रसंख्याम्।

१. इस कथन के समर्थन में तुलना कीजिए: दीक्षित के व्याख्याकार गंगाधर वाजपेयी की रसिकरञ्जनी, पृ० ३६
२. चि० मी०, पृ० १६१
३. वही, पृ० १६१

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

दोषापि नूनमहिमांशुरसौ किलेति
व्याकोशकोकनदतां दधते नलिन्यः ॥[1]

"इस पर्वत पर चन्द्रमा की किरणें रत्नों की किरणों से मिश्रित होकर अनन्त संख्या को पहुँच गयी हैं। तब यह तो चन्द्रमा नहीं, किन्तु सूर्य है—इस भ्रम में रात में भी कमल खिलने लगे हैं।"

यहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार है। रत्नों की किरणों से मिश्रित चन्द्रमा की किरणों में सूर्य के प्रकाश की भ्रान्ति हुई है और यह भ्रान्ति कमलों के विकास रूप कार्य में उपयोगी है। इस प्रकार भ्रान्ति के प्रसंग में भी रुय्यक का परिणाम-लक्षण व्याप्त हो जाएगा।

अपह्नुति में अतिव्याप्ति —

विकसदमरनारीनेत्रनीलाब्जखण्डा—
न्यधिवसति सदा यः संयमाधःकृतानि।
नतु रुचिरकलापे वर्तते यो मयूरे
वितरतु स कुमारो ब्रह्मचर्यश्रियं वः ॥[2]

"स्वामी कार्तिकेय जो सुन्दर पूंछवाले मयूर पर नहीं, अपितु देव-रमणियों के, संयम के कारण अवनत और हर्ष से प्रफुल्लित, नेत्ररूपी नीलकमलों पर रहते हैं आपको ब्रह्मचर्य की शोभा प्रदान करें।"

यहाँ कुमार कार्तिकेय के वाहनभूत मयूर का निषेध करके देव-रमणियों के नेत्रों की स्थापना की गयी है। अतः अपह्नुति अलंकार है। संयम के कारण अवनत देव-रमणियों के नेत्र ब्रह्मचर्य शोभाप्रदान रूप प्रकृत कार्य में उपयोगी हैं। यहाँ भी रुय्यक का परिणामलक्षण अतिव्याप्त हो जायगा।

अतिशयोक्ति में अतिव्याप्ति—

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं
नवोपहारेण वयस्कृतेन किम्।
त्रपा सरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा
नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत् ॥[3]

---

१. शिशुपालवध, ४.४६, चि० मी०, पृ० १६२
२. चि० मी०, पृ० १६३
३. नैषधीयचरित, १.४८, चि० मी०, पृ० १६३

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

"दमयन्ती के वक्षःस्थल पर जो दो (स्तनरूपी) कुम्भ प्रकट हुए हैं, क्या वे यौवन के उपहार हैं ? क्योंकि तभी तो उस सुन्दरी ने (उन कुम्भों के सहारे) लज्जारूपी नदी के दुर्ग को पार करके नल के हृदय में प्रवेश किया।"

यहाँ आरोप्यमाण विषयी 'कुम्भयुग' ने आरोपविषय 'कुचयुगल' को निगीर्ण कर लिया है। अतः यहाँ अतिशयोक्ति है। किन्तु, विषयी 'कुम्भयुग' नदीतरणरूप प्रकृत कार्य में उपयोगी है। अतः यहाँ रुय्यक का परिणामलक्षण भी अतिव्याप्त हो जायगा।

अनुमान में अतिव्याप्ति

चक्रभ्रमणकरत्वात् कुदृष्टिभिर्दूरवर्ज्यमानत्वात्।
श्रुत्यन्तरखेलनत्वान्मशक त्वामेव माधवं मन्ये ।।[1]

"ए मच्छर ! मेरी समझ में तुम सचमुच श्रीकृष्ण ही हो, क्योंकि तुम चक्रवत् घूमते रहते हो, (श्रीकृष्ण भी सुदर्शन चक्र घुमाते रहते हैं) लोग तुम्हें घृणा से देखते हुए अपने से दूर रखते हैं (दुर्जन भी श्रीकृष्ण को निकट नहीं आने देते) तुम लोगों के कानों पर मँडराते हो (श्रीकृष्ण की लीला का वेदोत्तर महाभारत आदि कृतियों में वर्णन हुआ है)।"

इस श्लेष संकीर्ण अनुमान में भी रुय्यक का परिणाम लक्षण अतिव्याप्त हो जाएगा, क्योंकि यहाँ चक्रभ्रमण आदि तथ्य मच्छर में श्रीकृष्ण की अनुमिति कराने के उपयोगी हैं।

दूसरी ओर, रुय्यक का यह लक्षण दृष्टान्त संकीर्ण परिणाम में घटित नहीं हो सकेगा। जैसे—

सुहृदालापेनैव प्रणश्यति स्थास्नुरान्तरः क्लेशः।
कान्तामुखचन्द्रेण हि शाम्यति रुचिरेण विरहजस्तापः ।।[2]

"दुखीजन के हृदय की गहरी वेदना मित्रगोष्ठी से ही नष्ट हो जाती है। जैसे कि कामुकों की विरह-वेदना कामिनियों के मुख-चन्द्र-दर्शन से ही शान्त हो जाती है।"

---

१. चि० मी०, पृ० १६३
२. वही, पृ० १६४

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यहाँ आरोप्यमाण विषयी चन्द्रमा प्रकृत कार्य में उपयोगी न होकर विरह-ताप-शमन रूपी अप्रकृत कार्य में उपयोगी हो जाता है। अतः यहाँ रुय्यक का परिणाम लक्षण घटित नहीं हो सकेगा।[1]

इस प्रकार रुय्यक के अव्याप्ति-अतिव्याप्ति दोषग्रस्त परिणाम लक्षण का निराकरण करके दीक्षित ने प्रतापरुद्रीयकार विद्यानाथ के परिणाम लक्षण को उद्धृत किया है। दीक्षित इस लक्षण को कुछ परिवर्त्तन के साथ मान लेते हैं। विद्यानाथ का परिणाम लक्षण इस प्रकार है :—

आरोप्यमाणमारोपविषयात्मतया स्थितम्।
प्रकृतस्योपयोगि स्यात्परिणाम उदाहृतः ॥[2]

"जहाँ आरोप्यमाण विषयी आरोपविषय के रूप में स्थित होकर प्रकृतगमक का उपयोगी हो।"

यहाँ 'प्रकृतस्य' का अर्थ 'प्रकृतगमकस्य' करना होगा। इस तरह रूपक आदि में परिणामलक्षण की व्याप्ति-अव्याप्ति नहीं होगी।

चक्रवर्ती का मत[3] —

रूपक और परिणाम में अन्तर को स्पष्ट करने के लिए पूर्वपक्ष के रूप में दीक्षित ने चक्रवर्ती के मत को उद्धृत किया है :—

"जब आरोपविषय (मुख आदि) आरोप्यमाण विषयी (चन्द्र आदि) के आकार को अपने में आरोपित करके तिरोहित हो जाता है, तब रूपक अलंकार होता है।" और—

"जब आरोपविषय (मुख आदि) अपने रूप को तिरोहित नहीं करता, किन्तु प्रकृत कार्य की उपयोगिता के लिए आरोप्यमाण विषयी (चन्द्र आदि) के आकार को ग्रहण करता है, तब परिणाम अलंकार होता है।"

इस प्रकार चक्रवर्ती के सिद्धान्तानुसार "रूपक में आरोप विषय का स्थगन हो जाता है, परिणाम में आरोप विषय का स्थगन नहीं होता है।"

---

१. चि० मी० पर धरानन्द की सुधा व्याख्या, पृ० १६४—
अत्रारोप्यमाणचन्द्रस्योपमानकोट्यन्तर्गतविरहतापोपशमनरूपाप्रकृतकार्योपयोगितया दृष्टान्तसंकीर्णे परिणामे चाव्याप्तेश्च ॥

२. चि० मी०, पृ० १६७

३. वही, पृ० २०३

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

किन्तु, दीक्षित को[1] यह भेद मान्य नहीं है, क्योंकि रूपक में भी आरोपविषय का स्थगन नहीं होता। तब इन दोनों में एक ही विलक्षणता रह जाती है कि परिणाम में आरोप्यमाण विषयी (चन्द्र आदि) का आरोपविषय (मुख आदि) में कार्योपयोगिता के लिए आरोप होता है, जबकि रूपक में आरोप कार्योपयोगिता के लिए नहीं होता।

परिणाम के भेद—

विषय और विषयी के समानविभक्तिक और भिन्नविभक्तिक होने के आधार पर दीक्षित ने परिणाम के दो भेद किये हैं।

समानविभक्तिक परिणाम के उदाहरण में—

तीर्त्वा भूतेशमौलिस्रजममरधुनीमात्मनासौ तृतीय-
स्तस्मै सौमित्रिमैत्रीमयमुपकृतवानातरं नाविकाय।
व्यामग्राह्यस्तनीभि: शबरयुवतीभिः कौतुकोदञ्चदक्षं
कृच्छ्रादन्वीयमानः क्षणमचलमथो चित्रकूटं प्रतस्थे॥[2]

"सीता-लक्ष्मण के साथ राम ने शिव की शिरोमाला देवनदी गङ्गा को पार किया। केवट को लक्ष्मण की मैत्री के रूप में किराया चुकाया। फिर वे चित्रकूट की ओर चले। भीलों की युवतियाँ, जिनके स्थूल-स्थूल स्तन टेढ़े फैलाये हुए हाथों के अन्तराल में ग्रहण करने योग्य थे, कुतूहल से प्रफुल्ल आँखों से उसे बड़ी देर तक देखती रहीं।"

यहाँ लक्ष्मण की मैत्री किराये (आतर) के रूप में परिणत होकर उपयोगी हुई है। आरोपविषयी (किराया) और आरोप विषय (लक्ष्मण की मैत्री) दोनों एक ही विभक्ति में हैं। अतः यहाँ यह समानविभक्तिक परिणाम है।

भिन्नविभक्तिक परिणाम के उदाहरण में—

पुन्नागजालकैर्हारान् काञ्चीः केयूरदामभिः।
कर्णिकाः कर्णिकारैश्च विहर्तुं विदधुर्वने॥[3]

"उन्होंने वन-स्थली में मनोविनोद के लिए पुन्नागों के हार, केयूरदाम की करधनियाँ और कर्णिकार कर्णिकाएँ बनायीं।"

---

१. चि० मी०, पृ० २०३-२०४
२. अनर्घराघव, ५.२, चि० मी०, पृ० १९८
३. चि० मी०, पृ० १९८

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यहाँ आरोप्यमाण विषयी हारादि और आरोपविषय पुन्नागजालकादि भिन्न-विभक्तिक हैं। यह भिन्नविभक्तिक परिणाम का उदाहरण है।

परिणाम अलंकार से भिन्न परिणामध्वनि के उदाहरणस्वरूप दीक्षित ने निम्न पद्य प्रस्तुत किया है—

चिराद्विषहसे तापं चित्तचिन्तां परित्यज।
नन्वस्ति शीतलः शौरेः पादाब्जनखचन्द्रमाः ॥[1]

"मन! तुम चिरकाल से सन्तप्त हो रहे हो। अब चिन्ता को त्यागो। श्रीकृष्ण के कमल रूपी चरणों में नखरूपी शीतल चन्द्रमा विद्यमान है।"

यहाँ श्रीकृष्ण के चरणनखों पर चन्द्रमा का आरोप किया गया है। श्रीकृष्ण के चरण-नख सन्ताप के निराकरण हेतु शीतल चन्द्रमा का काम करते हैं। श्रीकृष्ण की भक्ति से सन्ताप का इतिकरण हो जाता है। यहाँ परिणामध्वनि है।

ससन्देह

अर्थचित्रोपस्कारक अलंकारों में ससन्देह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुछ काव्य-शास्त्री इसे सन्देह भी कहते हैं। कुछ विद्वान इसे अलंकार ही नहीं मानते। वैचित्र्य के होने पर ही इसे अलंकार कोटि में रखा जा सकता है।

सर्वप्रथम दीक्षित ने प्राचीनों का ससन्देहलक्षण उद्धृत किया है:—

साम्यादप्रकृतार्थस्य या धीरनवधारणा।
प्रकृतार्थाश्रया तज्ज्ञैः ससन्देहः सा इष्यते ॥[2]

"जहाँ सादृश्य के आधार पर प्रकृत पदार्थ में अप्रकृत पदार्थ की अनिश्चित बुद्धि उत्पन्न होती है।"

दीक्षित को यह लक्षण मान्य नहीं है। (१) 'साम्यात्' इस पद में यदि फलत्वेन हम हेतुपञ्चमी मानते हैं तो ससन्देह के उन लक्षणों मेंज हाँ ऐसी विवक्षा नहीं है, यह लक्षण घटित नहीं हो सकेगा। यदि हम वहाँ स्वतः हेतुत्वविवक्षा मानते हैं तब 'अयं मार्तण्डः'[3]आदि पद्यों में जहाँ स्वतः हेतुत्वविवक्षा नहीं है, ससन्देह

---

१ चि० मी०, पृ० २०२

२, वही, पृ० २०७

३. अयं मार्तण्डः किं ? स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
कृशानुः किं ? सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम्।
कृतान्तः किं ? साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरं
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः ॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अलंकार नहीं हो सकेगा। दूसरी ओर, विकल्प अलंकार में अतिव्याप्ति भी होगी। (२) 'अनवधारणा' पद का अर्थ यदि 'अनिश्चितता' मानें तो उत्प्रेक्षा में अतिव्याप्ति होगी और यदि अनिश्चितता का अर्थ एक कोटि में स्थिर न होना माना जाए तो अपह्नुति में अतिव्याप्ति होगी। (३) 'प्रकृताश्रया' पद भी ठीक नहीं है, क्योंकि कभी-कभी वर्णनीय प्रकृत पदार्थ सन्देह का आश्रय नहीं होता, अपितु उससे सम्बद्ध कोई पदार्थ ही सन्देश का आश्रय होता है। जैसे—"अस्याः सर्गविधौ" इस पद्य में नायिका सन्देह का आश्रय नहीं है। यहाँ ब्रह्मा सन्देह का आश्रय है। ऐसे स्थलों में प्राचीनों का ससन्देहलक्षण व्याप्त न हो सकेगा।[1]

बुद्धिः सर्वात्मनान्योन्यक्षेपि नानार्थसंश्रया।
साद्दश्यमूला वार्थस्पृक्सन्देहलंकृतिर्मता॥

"जहाँ साहश्य के आधार पर अनेक पदार्थ एक-दूसरे को हटाते हैं और विकल्प का बोध होता है।"

इस लक्षण की 'विकल्प' अलंकार में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वहाँ जो पक्ष होते हैं उनमें से एक ही पक्ष का आश्रय लेना होता है। अपह्नुति में भी यह लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता, क्योंकि वहाँ जो दो पक्ष होते हैं वे समान रूप से एक दूसरे के प्रतिक्षेपी नहीं होते जबकि ससन्देह में सभी पक्ष एक दूसरे का प्रतिक्षेप करते हैं।

ससन्देह के भेद—

दीक्षित के अनुसार ससन्देह के दो प्रकार हैं: प्रसिद्धकोटिक और कल्पित-कोटिक।

(क) प्रसिद्धकोटिक—

"पङ्कजं वा सुधांशुर्वेत्यस्माकं तु न निर्णयः।"[2]

"मुख कमल है या चन्द्रमा हम किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाते।"

(ख) कल्पितकोटिक—

जीवनग्रहणे नम्रा गृहीत्वा पुनरुन्नताः।
किं कनिष्ठाः किमु ज्येष्ठा घटीयन्त्रस्य दुर्जनाः॥[3]

---

१. चि० मी०, पृ० २०८-२०९
२. वही, पृ० २१३
३. वही, पृ० २११

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

"दुर्जन किसी का जीवन लेने हेतु झुक जाते हैं, फिर जीवन लेकर उठ जाते हैं। रहट पानी लेते समय झुक जाता है, फिर पानी लेकर उठ जाता है। क्या दुर्जन रहट से छोटे हैं या बड़े हैं ? निश्चित नहीं है। यहाँ ससन्देह कल्पित-कोटिक है।"

दीक्षित ने ससन्देहव्यंग्य को भी माना है। इसके उदाहरणस्वरूप उन्होंने वक्षःस्थलाचार्य के वरदराजवसन्तोत्सव से निम्न पद्य उद्धृत किया है—

काञ्चित् काञ्चनगौराङ्गी वीक्ष्य साक्षादिव श्रियम्।
वरदः संशयापन्नो वृक्षःस्थलमवैक्षत ॥[1]

"सुवर्ण सी चमकती हुई, गौरवर्णी, लक्ष्मी के सदृश रूपाकारवती किसी युवती को देखकर वरदराज को संशय हुआ कि क्या यह कोई असामान्य नारी है या साक्षात् लक्ष्मी है। निश्चय पर पहुँचने के लिए वे अपने वक्षःस्थल को देखने लगे।"

दीक्षित के मत में यहाँ तीन संशय व्यंग्य हैं—

(१) युवती और लक्ष्मी इन दोनों में कौन अधिक रूपवती है ?

(२) युवती को सामने देखकर रूपगर्विणी लक्ष्मी के मन में क्या हुआ होगा ?

(३) वक्षःस्थल में एक लक्ष्मी तो पहले ही विराजमान है। अब इस लक्ष्मी को कहाँ जगह देनी होगी ?

भ्रान्तिमान्

अर्थचित्रोपस्कृत अलंकारों में भ्रान्तिमान् का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। दीक्षित के अनुसार भ्रान्तिमान् का लक्षण इस प्रकार है :—

कविसम्मतसादृश्याद्विषये पिहितात्मनि।
आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान्मतः ॥ [2]

"जहाँ आरोपविषय (मुख आदि) पर जिसका विषयत्व (मुखत्व आदि) छिपा दिया गया है आरोप्यमाण विषयी (चन्द्र आदि) का अनुभव हो।"

---

१. चि० मी०, पृ० ३१५

२: वही, पृ० २२०

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अलंकार नहीं हो सकेगा। दूसरी ओर, विकल्प अलंकार में अतिव्याप्ति भी होगी। (२) 'अनवधारणा' पद का अर्थ यदि 'अनिश्चितता' मानें तो उत्प्रेक्षा में अतिव्याप्ति होगी और यदि अनिश्चितता का अर्थ एक कोटि में स्थिर न होना माना जाए तो अपह्नुति में अतिव्याप्ति होगी। (३) 'प्रकृताश्रया' पद भी ठीक नहीं है, क्योंकि कभी-कभी वर्णनीय प्रकृत पदार्थ सन्देह का आश्रय नहीं होता, अपितु उससे सम्बद्ध कोई पदार्थ ही सन्देश का आश्रय होता है। जैसे—"अस्याः सर्गविधौ" इस पद्य में नायिका सन्देह का आश्रय नहीं है। यहाँ ब्रह्मा सन्देह का आश्रय है। ऐसे स्थलों में प्राचीनों का ससन्देहलक्षण व्याप्त न हो सकेगा।[१]

बुद्धिः सर्वात्मनान्योन्यक्षेपि नानार्थसंश्रया।
सादृश्यमूला वार्थस्पृक्सन्देहलंकृतिर्मता॥

"जहाँ सादृश्य के आधार पर अनेक पदार्थ एक-दूसरे को हटाते हैं और विकल्प का बोध होता है।"

इस लक्षण की 'विकल्प' अलंकार में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वहाँ जो पक्ष होते हैं उनमें से एक ही पक्ष का आश्रय लेना होता है। अपह्नुति में भी यह लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता, क्योंकि वहाँ जो दो पक्ष होते हैं वे समान रूप से एक दूसरे के प्रतिक्षेपी नहीं होते जबकि ससन्देह में सभी पक्ष एक दूसरे का प्रतिक्षेप करते हैं।

ससन्देह के भेद—

दीक्षित के अनुसार ससन्देह के दो प्रकार हैं: प्रसिद्धकोटिक और कल्पितकोटिक।

(क) प्रसिद्धकोटिक—

"पङ्कजं वा सुधांशुर्वेत्यस्माकं तु न निर्णयः।"[२]

"मुख कमल है या चन्द्रमा हम किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाते।"

(ख) कल्पितकोटिक—

जीवनग्रहणे नम्रा गृहीत्वा पुनरुन्नताः।
किं कनिष्ठाः किमु ज्येष्ठा घटीयन्त्रस्य दुर्जनाः॥[३]

---

१. चि० मी०, पृ० २०८-२०९
२. वही, पृ० २१३
३. वही, पृ० २११

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

"दुर्जन किसी का जीवन लेने हेतु झुक जाते हैं, फिर जीवन लेकर उठ जाते हैं। रहट पानी लेते समय झुक जाता है, फिर पानी लेकर उठ जाता है। क्या दुर्जन रहट से छोटे हैं या बड़े हैं ? निश्चित नहीं है। यहाँ ससन्देह कल्पित-कोटिक है।"

दीक्षित ने ससन्देहव्यंग्य को भी माना है। इसके उदाहरणस्वरूप उन्होंने वक्षःस्थलाचार्य के वरदराजवसन्तोत्सव से निम्न पद्य उद्धृत किया है—

> काञ्चित् काञ्चनगौराङ्गी वीक्ष्य साक्षादिव श्रियम्।
> वरदः संशयापन्नो वृक्षःस्थलमवैक्षत ॥[1]

"सुवर्ण सी चमकती हुई, गौरवर्णी, लक्ष्मी के सदृश रूपाकारवती किसी युवती को देखकर वरदराज को संशय हुआ कि क्या यह कोई असामान्य नारी है या साक्षात् लक्ष्मी है। निश्चय पर पहुँचने के लिए वे अपने वक्षःस्थल को देखने लगे।"

दीक्षित के मत में यहाँ तीन संशय व्यंग्य हैं—

(१) युवती और लक्ष्मी इन दोनों में कौन अधिक रूपवती है ?

(२) युवती को सामने देखकर रूपगर्विणी लक्ष्मी के मन में क्या हुआ होगा ?

(३) वक्षःस्थल में एक लक्ष्मी तो पहले ही विराजमान है। अब इस लक्ष्मी को कहाँ जगह देनी होगी ?

भ्रान्तिमान्

अर्थचित्रोपस्कृत अलंकारों में भ्रान्तिमान् का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। दीक्षित के अनुसार भ्रान्तिमान् का लक्षण इस प्रकार है :—

> कविसम्मतसादृश्याद्विषये पिहितात्मनि।
> आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान्मतः ॥ [2]

"जहाँ आरोपविषय (मुख आदि) पर जिसका विषयत्व (मुखत्व आदि) छिपा दिया गया है आरोप्यमाण विषयी (चन्द्र आदि) का अनुभव हो।"

---

१. चि॰ मी॰, पृ॰ ३१५

२: वही, पृ॰ २२०

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यहाँ इस तथ्य का अनुरोध है कि आरोप विषय में आरोपप्यमाण विषयी का अनुभव कविकल्पित हो। ऐसा कहने पर लक्षण की व्याप्ति रूपक आदि में नहीं होती—

"अयं प्रमत्तमधुपस्त्वन्मुखं वेत्ति पङ्कजम्।"[१]

"यह मस्त भ्रमर तेरे मुँह को कमल समझ रहा है।"

अप्पय दीक्षित ने भ्रान्तिमान् अलंकार के चार प्रकार प्रस्तुत किये हैं—

(१) शुद्धभ्रान्ति
(२) उत्तरोत्तर भ्रान्ति
(३) भिन्नकर्तृक उत्तरोत्तर भ्रान्ति
(४) अन्योन्यविषयक भ्रान्ति

इनमें उत्तरोत्तर भ्रान्ति तथा भिन्नकर्तृक उत्तरोत्तर भ्रान्ति में अपेक्षाकृत अधिक चमत्कार उपलब्ध है। यहाँ एक उदाहरण उपस्थित करना समयानुकूल है—

शिञ्जानैर्मञ्जरीति स्तनकलशयुगं चुम्बितं चञ्चरीकै—
स्तत्त्रासोल्लासलीलाः किसलयमनसा पाणयः कीरदष्टाः।
तल्लोपायालपन्त्य पिकनिनदधिया ताडिताः काकलीकै—
रित्थं चालेन्द्रसिंह त्वदरिमृगदृशां नाप्यरण्यं शरण्यम्॥

"हे चोलनरेश! तुम्हारी अरिनायिकाओं को वनप्रदेश में भी आश्रय प्राप्त नहीं होता। उनके स्तनकलशों को मंजरी समझकर मुखरित भ्रमरों ने चूम लिया, भ्रमरों से भय के कारण सविलास हस्तपल्लवों को किसलय समझ कर शुकों ने काट लिया और प्रतिकार हेतु क्रन्दनशीला रमणियों को कोकिल की वाणी समझकर कौओं ने मार भगाया।"

इस पद्य में भिन्नकर्तृक उत्तरोत्तर भ्रान्ति का निवन्धन स्पष्ट है। प्रसंग में, भ्रमर, शुक एवं काक भ्रान्ति से स्तनकलश, हस्तपल्लव एवं वाणी को क्रमशः भंजरी, किसलय एवं कोकिलक्रन्दन मान बैठे हैं।

इस पद्य को लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर ने अप्पय दीक्षित का तीव्र खण्डन किया है। खण्डन इस प्रकार है—

---

१. कुवलयानन्द, पृ० २६

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(१) "स्तनकलशों में मञ्जरी की भ्रान्ति—कवि समय प्रसिद्ध नहीं है।

(२) 'कीरदष्टाः' में अविमृष्टविधेयांश दोष है।
'कीरैर्दष्टाः' प्रयोग उचित होता।

(३) 'पिकनिनदधिया' प्रसंग में कौओं को कोकिलालाप में नहीं कोकिलाओं में भ्रान्ति ही सम्भव है। कोकिल-ध्वनि हेतु 'कूजित' शब्द का प्रयोग होना चाहिये था, 'निनद' का नहीं।

(४) 'त्वदरिमृगदृशा' में अन्वयदोष भी है।

इस प्रकार जगन्नाथ एवं विश्वेश्वर ने अप्पय दीक्षित की आलोचना की है। किन्तु, यदि देखा जाय तो यह आलोचना अप्पय दीक्षित की नहीं है। उक्त दोष तो श्लोक-रचयिता में है। हाँ, अप्पय दीक्षित को इस प्रकार के सदोष श्लोकों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत नहीं करना चाहिए था। दीक्षित ने भ्रान्ति का एक प्रकार अन्योन्यविषय भ्रान्ति भी माना है, जिसका वे अतिसुन्दर उदाहरण देते हैं—

पलाशकुसुमभ्रान्त्या शुकतुण्डे पतत्यलिः।
सोऽपि जम्बूफलभ्रान्त्या तमलिं धर्तुमिच्छति ॥[1]

"भौंरा तोते की चोंच को पलाश की कलि समझकर उसपर गिर रहा है। तोता भी भौंरे को जामुन का फल समझकर पकड़ना चाहता है।"

उल्लेख

दीक्षित ने उल्लेख का लक्षण इस प्रकार किया है—

निमित्तभेदादेकस्य वस्तुनो यदनेकधा।
उल्लेखनमनेकेन तमुल्लेखं प्रचक्षते ॥[2]

"जहाँ भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक ही वस्तु का निमित्त भेद के कारण पृथक्-पृथक् अनुभव करें।"

लक्षण में सभी पद सार्थक हैं। 'अनेकेन' अर्थात् 'भिन्न-भिन्न व्यक्ति' ऐसा कहने से माला रूपक में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वहाँ अनुभव करने वाला व्यक्ति एक ही होता है। "अनेकधा" कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति

१. चि० मी०, पृ० २२१
२. वही, पृ० २२५

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

का अनुभव भी पृथक्-पृथक् होना चाहिये। यदि भिन्न-भिन्न व्यक्ति एकसा ही अनुभव करेंगे तो उल्लेख नहीं होगा। 'एकस्य' कहने का तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु का भिन्न-भिन्न प्रकार से उल्लेख हो वह वस्तु एक ही होनी चाहिए। 'उल्लेखनम्' कहने का तात्पर्य है कि वर्णन निषेधस्पृष्ट न हो। ऐसा कहने से अपह्नुति में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी।

उदाहरण—

स्त्रीभिः कामोऽर्थिभिः स्वद्रुः कालः शत्रुभिरैक्षि सः।[1]

"स्त्रियों ने उसे कामदेव, याचकों ने कल्पद्रुम और शत्रुओं ने यम समझा।" उल्लेख दो प्रकार का है : शुद्ध और संकीर्ण। किसी अन्य अलंकार से मिश्रित न होने पर शुद्ध कहलाता है। जैसे—

अकृशं कुचयोः कृशं विलग्ने
विपुलं चक्षुषि विस्तृतं नितम्बे।
अधरेऽरुणिमाविरस्तु चित्ते
करुणाशालिकपालिभागधेयम्॥[2]

"खप्पर धारण करने वाले शिव का वह अपूर्व सौभाग्य—पार्वती—जो करुणामय होने के साथ-साथ स्तनों में पुष्ट, मध्यमें पतला, नेत्रों में लम्बा, नितम्बों में विशाल और होठों में लाल है—मेरे चित्त में प्रकट हो।"

यहाँ प्रार्थी भक्त एक ही है जो पार्वती की वन्दना कर रहा है। क्योंकि यहाँ पार्वती के अंगों का पृथक्-पृथक् वर्णन हुआ है इसलिए उल्लेख अलंकार है।

किसी अन्य अलंकार से मिश्रित होने पर इसे संकीर्ण करते हैं।[3] चित्र-मीमांसा में दीक्षित ने श्लेष संकीर्ण, रूपक संकीर्ण, उत्प्रेक्षा संकीर्ण, उपमा संकीर्ण और हेतु संकीर्ण उल्लेख के उदाहरण दिये हैं। इनके उदाहरण चित्रमीमांसा में देखे जा सकते हैं।

---

१. कुवलयानन्द, पृ० २४ तथा चि० मी०, पृ० २२७
२. वही, पृ० २६, वही, पृ० २३१
३ चि० मी०, पृ० २३३
ग्रहीतृभेदाभावेऽपि विषयाश्रयभेदतः।
एकस्यानेकधोल्लेखमप्युल्लेखं प्रचक्षते॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अपह्नुति

अर्थचित्रोपस्कृत अर्थालंकारों में अपह्नुति का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। दीक्षित ने अपह्नुति का लक्षण इस प्रकार किया है:—

प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्व प्रकल्पनम्।
साम्यादपह्नुतिः।[१]

"जहाँ प्रकृत पदार्थ के निषेध से सादृश्य के आधार पर अप्रकृत की कल्पना की जाय।"

इस लक्षण में सभी पद सार्थक हैं। 'प्रकृतस्य निषेधेन' ऐसा कहने से रूपक में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वहाँ प्रकृत में अप्रकृत का आरोप पाया जाता है, प्रकृत का निषेध नहीं पाया जाता।

लक्षण में 'साम्यात्' और 'अन्यत्वकल्पनम्' इन पदों का समावेश होने से आक्षेप का निवारण होता है, क्योंकि आक्षेप सादृश्यमूलक अलंकार नहीं है और उसमें विषय का निषेध ही पाया जाता है, अन्यत्वकल्पन नहीं पाया जाता।

इस लक्षण की अतिव्याप्ति तत्त्वाख्यानोपमा में भी नहीं होती, क्योंकि वहाँ अप्रकृत का निषेध करके प्रकृत की स्थापना की जाती है जो अपह्नुति के ठीक विपरीत है।[२]

कई आलंकारिकों ने "प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनम्" "निषिध्य विषयं साम्यादारोपः" अपह्नुति के लक्षण किये हैं। इसके अनुसार पहले प्रकृत का निषेध करके पश्चात् उस पर अप्रकृत का आरोप किया जाता है, किन्तु कई ऐसी भी स्थितियाँ हैं जहाँ पहले अप्रकृत का आरोप किया जाता है पश्चात् प्रकृत का निषेध। ऐसी स्थितियों में आलंकारिकों के ये लक्षण संगत नहीं होते। अतः दीक्षित ने 'निषिध्य' या 'प्रतिषिध्य' न कहकर 'निषेधेन' कहा है। यह लक्षण दोनों विकल्पों में संगत बैठ जाता है।[३]

लक्षण में 'साम्य' और 'सादृश्य' शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि प्रकृत और अप्रकृत के साधर्म्य होने पर ही अपह्नुति अलंकार होता है, किन्तु दीक्षित के विचार में साधर्म्येतर सम्बन्ध में भी अपह्नुति होती है। जैसे—

१. चि० मी०, पृ० २३७
२. वही, सुधाव्याया, पृ० २३७
३. वही, पृ० २३७

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अमृतस्यन्दिकिरणश्चन्द्रमा मम नो मतः ।
अन्य एवायमर्कात्मा विषनिष्यन्ददीधितिः ॥[1]

"यह अमृतमयी किरणों वाला चन्द्रमा नहीं है, अपितु विषमयी किरणों वाला सूर्यस्वरूप कोई दूसरा ही है।"

सादृश्य के विना ही यहाँ प्रकृत में अप्रकृत की स्थापना की गयी है।

अपह्नुति के भेद

दीक्षित के अनुसार अपह्नुति के दो भेद हैं: (१) अनेकवाक्यवती, (२) एकवाक्यवती। इन्हें क्रमशः वाक्यभेदवती और वाक्याभेदवती भी कहा गया है।[2] प्रथम में, एक से अधिक वाक्य रहते हैं जिनमें पहले प्रकृत का निषेध और पश्चात् अप्रकृत का आरोप होता है। इनमें से कभी प्रकृत के निषेध वाले वाक्य को और कभी अप्रकृत के आरोप वाले वाक्य को पहले रखा जाता है। इस आधार पर वाक्यभेदवती उपमा के दो उपभेद हो जाते हैं: (१) अपह्नवपूर्वक आरोप, (२) आरोपपूर्वक अपह्नव।[3]

(क) अपह्नवपूर्वक आरोप। जैसे—

अङ्कं केऽपि शशङ्किरे जलनिधेः पङ्कं परं मेनिरे
सारङ्गं कतिचिच्च सञ्जगदिरे भूच्छायमैच्छन्परे।
इन्दौ यद्दलितेन्द्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते
तत्सान्द्रं निशि पीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे ॥[4]

"कुछ लोग चन्द्रमा में काले चिह्न को कलंक मानते हैं, कुछ लोग समुद्र का कीचड़, कुछ हिरन और अन्य पृथ्वी की छाया बताते हैं। विदीर्ण इन्द्रनील मणि के समान जो कालापन चन्द्रमा में दिखायी दे रहा है वह हमारी समझ में चन्द्रमा द्वारा रात में पिया हुआ घना अन्धकार है जो चन्द्रमा के उदर में जम गया है।"

यहाँ प्रकृत का निषेध करके उस पर अप्रकृत का आरोप किया गया है।

१. चि० मी०, पृ० २४३
२. वही, पृ० २३७, वाक्यभेदाभेदवती द्विधा ॥
३. वही, पृ० २३८
४. वही, पृ० २३९

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(ख) आरोपपूर्वक अपह्नव । जैसे—

मन्थानभूमिधरमूलशिलासहस्र—
संघट्टनव्रणकिणः स्फुरतीन्दुमध्ये ।
छायामृगः शशकइत्यतिपामरोक्ति—
स्तेषां कथञ्चिदपि तत्र हि न प्रसक्तिः ॥[१]

"चन्द्रमा में जो काला चिह्न दिखायी देता है वह मन्दार पर्वत की शिलाओं के साथ टकराने से उत्पन्न घाव का धब्बा है । मूर्ख लोग इसे पृथ्वी की छाया, मृग, शशक आदि कहते हैं । भला चन्द्रमा में हिरन और खरगोश कहाँ से आये ?"

यहाँ पहले अप्रकृत का आरोप, पश्चात् प्रकृत का निषेध किया गया है ।

यदि हम लक्षण में पूर्वकालिक क्रिया के रूप 'प्रतिषिध्य' का प्रयोग करें तो लक्षण संगत नहीं होगा, क्योंकि यहाँ पहले आरोप और पश्चात् प्रतिषेध हुआ है । अपह्नुति के इस भेद में भी अपह्नुति का लक्षण सगंत हो जाये, इसलिए दीक्षित ने लक्षण में पूर्व-कालिक क्रिया 'प्रतिषिध्य' का समावेश नहीं किया है । एकवाक्यवती अपह्नुति । जैसे—

बत सखि कियदेतत्पश्य वैरं स्मरस्य
प्रियविरहकृशेऽस्मिन् कामिलोके तथाहि ।
उपवनसहकारोद्भासि भृंगच्छलेन
प्रतिविशिखमनेकोट्टङ्कितं कालकूटम् ॥[२]

"देखो, सखी ! प्रियजन के विरह से दुबले हो गये कामिजनों से कामदेव कितना बैर रखते हैं कि अब उन्होंने बगीचे के आम्रवृक्ष पर बैठे हुए भौरों के बहाने अपने बाणों पर विष चढ़ा लिया है ।"

यहाँ 'छल'[३] शब्द के प्रयोग से आम्रवृक्ष पर बैठे हुए भौरों का निषेध करके विषैले बाणों की स्थापना की गयी है ।

---

१. चि० मी०, पृ० २४०
२. वही, पृ. १४०
३. एकवाक्यगता अपह्नुति में छल, कपट, वपुः कैतव तथा व्याजादि शब्दों के द्वारा प्रकृत का निषेध करके अप्रकृत का आरोप होता है ।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अपह्नुति का एक तीसरा भेद भी है: जहां प्रकृत वस्तु को छिपाने के लिए सादृश्य का प्रयोग होता है।[1] जैसे—

आकृष्यादावमन्दग्रहमलकचयं वक्त्रमासज्य वक्त्रे
कण्ठे लग्नः सुकण्ठः प्रसरति कुचयोर्दत्तगाढाङ्गसङ्गः।
बद्धासक्तिर्नितम्बे पतति चरणयोर्यः स तादृक् प्रियो मे
बाले लज्जा निरस्ता नहि नहि सरले चोलकः किं त्रपाकृत् ॥[2]

"पहले-पहल जोरों से केशों को खींचकर, मुंह में मुंह डालकर, सुन्दर ग्रीवा वाला वह गले में लगकर स्तनों का आलिगन करता हुआ बढ़ता चला जा रहा है। नितम्ब में आसक्त होकर चरणों में गिर रहा है। कैसा वह प्यारा लग रहा है।" किसी सखी के इन वचनों को सुनकर दूसरी सखी कहती है—'क्या सचमुच तू बेशर्म हो गयी है जो अपनी रतिक्रीड़ा की बातें कर रही है। पहली सखी वास्तविकता को छिपाने के लिए कहती है: "ऐ भोली ! भला कहीं कुर्ते की बात भी लज्जा का कारण बन सकती है।"

रुय्यक के मत में यहां व्याजोक्ति है। किन्तु व्याजोक्ति को न मानने वाले उद्भट आदि आलंकारिकों के मत में यह अपह्नुति का ही भेद है।[3]

दीक्षित ने, अन्त में, संकेत किया है कि दण्डी साधर्म्येतर सम्बन्धों में भी अपह्नुति को स्वीकार करते हैं। अतः स्पष्ट है कि आचार्य दण्डी वस्तु के निषेध और अन्य वस्तु की कल्पना को स्वीकार करते हैं।[4]

उपमा से अपह्नुति तक के ये दस सादृश्यमूलक चित्रालंकार हैं। इसके पश्चात् चित्रमीमांसा में उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति इन दो अध्यवसायमूलक चित्रालंकारों का वर्णन मिलता है।

---

१. चित्रमीमांसा, पृ. २४६

"सादृश्यव्यक्तये यत्रापह्नवोऽसावपह्नुतिः।
अपह्नवाय सादृश्यं यत्रास्त्येषाप्यपह्नुतिः॥

२. वही, पृ० २४१। यह श्लोक कुवलयानन्द में छेकापह्नुति के उदाहरण में प्रयुक्त है।

३. विशेष हेतु देखिये—अलंकारसर्वस्व, पृ. १३२

४. अपह्नुतिरपह्नुत्य किञ्चिदन्यार्थसूचनम्।
न पञ्चेषुः स्मरस्तस्य सहस्रं पत्रिणामिति॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

उत्प्रेक्षा

यत्रान्यधर्मसम्बन्धादन्यत्वेनोपतर्कितम् ।
प्रकृतं हि भवेत्प्राज्ञास्तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते ॥[१]

"जहाँ अप्रकृत पदार्थ के धर्म सम्बन्ध के कारण प्रकृत में अप्रकृत की कल्पना की जाये।"

दीक्षित ने यह उत्प्रेक्षालक्षण विद्यानाथ के प्रतापरुद्रीय से उद्धृत किया है। यहाँ 'उपतर्कितम्' का तात्पर्य है 'सम्भावना'। यह 'मन्ये, शङ्के ध्रुवम्, प्रायः, नूनम्, इव' आदि शब्दों के द्वारा द्योतित होती है।[२] इनमें 'इव' शब्द उपमा का भी द्योतन करता है। जहाँ वह सम्भावनामूलक होता है, वहाँ वह उत्प्रेक्षा का प्रयोजक है और जहाँ वह सादृश्यमूलक होता है वहाँ वह उपमा का निर्देशक है। दूसरे शब्दों में, जब उपमान लोकप्रसिद्ध हो तब 'इव' उपमा परक होता है और जब उपमान कल्पित हो तब वह सम्भावनापरक होता है।

सम्भावनापरक 'इव'। जैसे—

बालेन्दुवक्त्राण्यविकासभावा—
द्बभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।
सद्यो वसन्तेन समागतानां
नखक्षतानीव वनस्थलीनाम् ॥[३]

---

१. चि० मी० पृ० २४७ यह लक्षण अप्पय दीक्षित ने विद्यनाथ के 'प्रतापरुद्रीय' से ग्रहण करके विचार किया है।

२. (क) काव्यादर्श—"मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्यवमादिभिः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिव शब्दोऽपि तादृशः ॥

(ख) 'इव' शब्द जब क्रियापद के साथ संयुक्त रहता है, तब वहाँ पर क्रियोत्प्रेक्षा मानी जाती है—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥

"अन्धकार अंगों का मानो लेपन कर रहा है। आकाश मानो अंजन का वर्षण कर रहा है—"यह अन्धकार के व्यापन को लेपन तथा वर्षण के रूप में सम्भावित किया गया है। साथ ही 'इव' का प्रयोग क्रियापद के साथ होने में यहाँ क्रियोत्प्रेक्षा है।

३. कुमारसम्भव, ३.२, चि० मी०, पृ० २४७

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

"विकसित न होने के कारण बालचन्द्रमा के सादृश कुटिल, अत्यन्तरक्त पलाशमुकुल ऐसे शोभित हो रहे थे, मानो कि वे वसन्त के साथ रतिक्रीड़ा करने के कारण वनस्थलियों के अभिनव नखक्षत हों।"

इस पद्य में पलाशमुकुलों की कुटिलता और ललाई की वनस्थलियों के नख-क्षत के साथ तादात्म्यसम्भावना की गयी है। यहाँ 'इव' शब्द सम्भावना वाचक है।

दूसरा उदाहरण—

पिनष्टीव तरङ्गाग्रैः समुद्रः फेनचन्दनम्।
तदादाय करैरिन्दुर्लिम्पतीव दिगङ्गनाः ॥[1]

"समुद्र मानो अपनी लहरों से फेन रूपी चन्दन को घिस रहा है और चन्द्रमा मानो अपनी किरणों से उस फेन-चन्दन को लेकर दिशारूपी कामनियों का अनुलेपन कर रहा है।"

यहाँ 'पिनष्टीव' इससे पेषण क्रिया की और 'लिम्पतीव' इससे लेपन क्रिया की सम्भावना की गयी है। समुद्र में फेन-चन्दन का एकत्रित होना और चन्द्रमा द्वारा फेनचन्दन से दिशाओं का श्वेतीकरण भी उत्प्रेक्षित हुए हैं।

लक्षण में "अन्यधर्मसम्ब्रन्धात्" का तात्पर्य यह है कि प्रकृत में अप्रकृत की सम्भावना किसी धर्मसम्बन्ध के कारण की जाये। यह इसलिए कहा गया है कि 'सम्भव' अलंकार में जहाँ प्रकृत में अप्रकृत के धर्म की सम्भावना नहीं होती उत्प्रेक्षालक्षण अतिव्याप्त न हो। उदाहरण—

कास्तूरिकामृगाणामण्डाद्गन्धगुणमखिलमादाय।
यदि पुनरहं विधिः स्यां खलजिह्वायां निवेशयिष्यामि ॥[2]

"अगर मैं ब्रह्मा हो जाऊँ तो कस्तूरीमृगों की नाभि से सारे गन्धगुणों को लेकर दुष्टों की जिह्वा पर रख दूँ।"

यहाँ प्रकृत में अप्रकृत के धर्म की सम्भावना न होने के कारण उत्प्रेक्षा नहीं है, अपितु सम्भव अलंकार है जिसका दीक्षित ने कुवलयानन्द में [3] उत्प्रेक्षा से

१. चि० मी०, पृ० २५५
२. वही, पृ० २४६
३. कुवलयानन्द, पृ० २८३

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

पृथक् अस्तित्व माना है। किन्तु, मम्मट, रुय्यक और जगन्नाथ के मत में सम्भावना कोई पृथक् अलंकार नहीं है। वे इसका अतिशयोक्ति के तृतीय भेद में समावेश करते हैं।

लक्षण में 'अन्यत्वेनोपतर्कितम्' कहा गया है। यदि प्रकृत में अप्रकृत की कल्पना न होकर मात्र सम्भावना हो तो वहाँ उत्प्रेक्षालंकार नहीं होगा। जैसे—

विरक्तसन्ध्यापरुषं पुरस्ताद्यतो रजः पार्थिवमुज्जिहीते।
शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्य ॥

"यहाँ धूल को उड़ती देखकर राम यह शंका करते हैं कि हनुमान से उनका आगमन सुनकर सेना सहित भरत उनकी आगवानी हेतु आ रहे हैं। यहाँ उत्प्रेक्षालंकार नहीं है।"

'उपतर्कितम्' पद का समावेश अनुमानालंकार का निषेध भी करता है। अनुमानालंकार में तर्क अथवा कल्पना का अभाव रहता है। अनुमान में लिंग के द्वारा लिंगी का निश्चय हो जाता है।

लक्षण में 'प्रकृत' पद का भी प्रयोग किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि कल्पना प्रकृतगत होती है। जिस स्थल पर अप्रकृत से कोई सम्भावना होगी वहाँ उत्प्रेक्षालंकार नहीं होगा।

चित्रमीमांसा में दीक्षित ने कई ऐसे पद्य उद्धृत किये हैं जिनमें उक्त लक्षण घटित नहीं होता। किन्तु, उन पद्यों में भी दीक्षित ने लक्षण की संगति हेतु प्रयत्न किया है। प्रसंगवश हम यहाँ कुछ पद्य उद्धृत करते हैं:—

अंगुलीभिरिव केशसञ्चयं सन्नियम्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥[१]

"चन्द्रमा अपनी किरणों से अन्धकार को पकड़कर बन्द कमल की आँखों वाले रजनीमुख को चूम रहा है मानो कि वह अपनी अंगुलियों से केशपाश को पकड़कर कमल के समान बन्द आँखों वाले नायिका-मुख को चूम रहा हो।"

इस पद्य में सम्भावना निमित्त प्रकृत का ही धर्म है, अप्रकृत का नहीं। ऐसे स्थलों में जहाँ प्रकृत-अप्रकृत के धर्मों में सम्बन्ध नहीं है लक्षण की संगति नहीं बैठती।

---

१. कुमारसम्भव, ८.६३, चि० मी०, पृ० १५३

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

उन स्थलों में भी जहाँ उत्प्रेक्षा अप्रकृत धार्मिक है लक्षण संगत नहीं होगा। क्योंकि, लक्षण के अनुसार प्रकृतधार्मिक होने पर ही उत्प्रेक्षा होती है, अन्यथा नहीं। अतः—

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥[1]

"प्रतीत होता है कि दमयन्ती का मुख बनाने के लिए ब्रह्मा ने चन्द्रमण्डल के सारभाग को ले लिया है जिससे चन्द्रमण्डल में गम्भीर गढ्ढे हो गये हैं और वह आकाश की नीलिमा को धारण किये हुए प्रतीत होता है।"

यहाँ सम्भावनापरक 'इव' का सम्बन्ध अप्रकृत चन्द्रमण्डल के साथ है, प्रकृत दमयन्तीमुख के साथ नहीं है। अतः यहाँ उत्प्रेक्षालक्षण के अव्याप्त होने की आशंका है, क्योंकि लक्षण के अनुसार जहाँ प्रकृत में अप्रकृत धर्म की कल्पना की जाये वहीं उत्प्रेक्षा होती है, अन्यत्र नहीं।

इस प्रकार दीक्षित ने अन्य पद्यों में भी कई शंकाएँ प्रस्तुत की हैं और फिर उनका उचित निराकरण भी किया है। जैसे—

"अंगुलिभिरिव[2]" इस पद्य में रात्रि के आरम्भ को रात्रि का मुख और रात्रि में चन्द्रमा के उदय को रात्रि-मुख-चुम्बन स्वीकार करके प्रकृत-अप्रकृत के परस्पर सम्बन्ध की स्थापना की है। इसी प्रकार "हृतसारमिवेन्दुमण्डलम्" इस पद्य में भी उक्त लक्षण की संगति हो सकती है, क्योंकि तब लक्षण में प्रकृत शब्द का तात्पर्य उपमेय (मुख आदि) न होकर विषयत्वमात्र होगा। ऐसी स्थिति में उपमान (चन्द्र आदि) भी प्रकृत हो सकते हैं।

गम्योत्प्रेक्षा और उत्प्रेक्षा ध्वनि में भेद—

गम्योत्प्रेक्षा में विषय, विषयी और निमित्त तीनों वाच्य रहते हैं। केवल सम्भावनावाचक पद गम्य होता है। दूसरी ओर, उत्प्रेक्षाध्वनि में विषयी वाच्य नहीं होता, वस्तु अथवा अलंकार के प्रयोग से सम्भावना ध्वनित होती है।[3]

(क) गम्योत्प्रेक्षा—

नभसि महसां ध्वान्तध्वांक्ष प्रमापणपत्त्रिणा—
मिह विहरणैः श्येनम्पातां रवेरवलोकयन्।

---

१. नैषधीयचरित, २.२५, चि० मी०, २५७

२. कुवलयानन्द, पृ० ५६—
अगुलीभिरिव केशसंचयं संनियम्यतिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥

३. चि० मी०, पृ० ३१६

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

शशविशसनत्रासादाशामगाच्चरमां शशी
तदधिगमनात्तारापारावतैरुदडीयत ।।[१]

"ज्योंहि सूर्य की किरणें आकाश में प्रसृत हुई वे अन्धकार को नष्ट करने लगीं, मानो कि बाज कौओं को मारने लगा हो। यह देखकर मानो चन्द्रमा भयभीत होने लगा कि कहीं उसकी गोद में बैठा हुआ खरगोश सूर्य का शिकार न हो जाये। इसलिए वह (खरगोश को साथ लेकर) पश्चिम की ओर भाग गया। उसके चले जाने से (उसके साथी) तारे रूपी कबूतर भी उड़ गये।"

यहाँ वाचक पद 'इव' का प्रयोग नहीं हुआ। अतः यहाँ गम्योत्प्रेक्षा है।

(ख) उत्प्रेक्षा में वस्तुध्वनि

वीररुद्रभटान् दृष्ट्वा जयलक्ष्म्यावृतान् रणे।
कार्षन्त्यरिवधूकेशान्कानने कण्टकिद्रुमाः ।।[२]

"यह देखकर कि युद्ध भूमि में जयलक्ष्मी ने वीर रुद्र के सैनिकों का आलिंगन किया, वन के कटीले वृक्ष (मानो) रिपुवधुओं के केशों को खींचने लगे।"

यहाँ वृक्षों द्वारा अरि-वधुओं के केशग्रहण रूपी वस्तु से वृक्षों में कामवासना का उद्दीपन ध्वनित हुआ है।

उत्प्रेक्षा में अलंकारध्वनि

वेलामतिक्रम्य पृथुं मुखेन्दो--
रालोकपीयूषरसेन तस्याः।
नलस्य रागाम्बुनिधौ विवृद्धे
तुङ्गौ कुचावाश्रयति स्म दृष्टिः ।।[३]

"दमयन्ती के मुखचन्द्रदर्शन रूपी अमृतरस को पीकर जब नल का अनुराग रूपी सागर अपनी सीमा को लाँघकर बढ़ने लगा तब नल की दृष्टि ने मानो डूबने के भय से उस (दमयन्ती) के उन्नत कुचों का आश्रय लिया।"

यहाँ 'मुखेन्दोः' 'इस एकदेशविवर्ती रूपक अलंकार से 'मानो डूबने के भय से' यह हेतूत्प्रेक्षा ध्वनित होती है।

---

१. नैषधीयचरित, १९.१२, चि० मी०, २८६
२. चि० मी०, पृ० ३१७
३. वही, पृ० ३१७ तथा नैषधीयचरित, ७.४

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कुछ काव्यशास्त्रियों के अनुसार यहाँ मुख में जो चन्द्रमा का आरोप किया गया है वह अनुराग में समुद्र के आरोप का कारण है । इस प्रकार उनके मत में यहाँ परम्परित रूपक से हेतूत्प्रेक्षा ध्वनित होती है ।

कुवलयानन्द में अप्पय दीक्षित ने, उत्प्रेक्षा-विभाग इस प्रकार किया है ।[1]

उत्प्रेक्षा

- (अ) वस्तूत्प्रेक्षा (स्वरूपोत्प्रेक्षा)
  - १. उक्त विषया
  - २. अनुक्त विषया
- (ब) हेतूत्प्रेक्षा
  - ३. सिद्ध विषया
  - ४. असिद्ध विषया
- (स) फलोत्प्रेक्षा
  - ५. सिद्ध विषया
  - ६. असिद्ध विषया

चित्रमीमांसा में, अप्पय दीक्षित, अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक के ९६ उत्प्रेक्षा भेदों, प्रतापरुद्रीय विद्यानाथ के १०४ उत्प्रेक्षा भेदों का उल्लेख करते हुए अपने उत्प्रेक्षा भेदों का सविस्तार वर्णन करते हैं ।

अतिशयोक्ति

चित्रमीमांसा में अर्थचित्रोपस्कारक अर्थालंकारों में अतिशयोक्ति का स्थान अन्तिम है । दीक्षित सर्वप्रथम विद्यानाथ के प्रतापरुद्रीय से अतिशयोक्ति का लक्षण उद्धृत करते हैं -

विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते ।
यत्र सातिशयोक्तिः स्यात्कविप्रौढोक्तिजीविता ।।[2]

"जहाँ विषय (मुख आदि) का उपादान न करते हुए केवल विषयी (कमल आदि) का निबन्धन किया जाय ।"

इस लक्षण के आधार पर आलंकारिकों ने अतिशयोक्ति के चार भेद माने हैं—

१. कुवलयानन्द, पृ० ३५-३६ साच वस्तु हेतु-फलात्मतागोचरत्वेन त्रिविधा । अत्र वस्तुनः कस्यचिद्वस्त्वन्तरतादात्म्यसम्भावना प्रथमा स्वरूपोत्प्रेक्षेत्युच्यते । अहेतोर्हेतुभावेना-फलस्य......................द्विविधे । एवं षण्णामुत्प्रेक्षाणां धूमस्तोममित्यादीनि क्रमेणोदाहरणानि ।

२. चि० मी०, पृ० ३१९

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(१) भेदे अभेदः ।
(२) अभेदे भेदः ।
(३) सम्वन्धे असम्वन्धः ।
(४) असम्वन्धे सम्वन्धः ।

मम्मट तथा रुय्यक द्वारा समर्थित अतिशयोक्ति के–कार्यकारणपौर्वापर्य–भेद का उल्लेख वे कार्यकारणमूलक अलंकारों में करते हैं ।[1]

(क) भेद में अभेद

कमलमनम्भसि कमले
कुवलयमेतानि कनकलतिकायाम् ।
सा च सुकुमारसुभगे–
त्युत्पातपरम्परा केयम् ॥[2]

"विना जल के कमल (मुख), उस कमल में भी दो नीलकमल (नेत्र)—ये तीनों सुवर्णलता (नायिका के शरीर में) उगे हुए हैं । सुवर्णलता भी कोमल और सुन्दर है । यह कैसी विचित्र परम्परा है ?"

यहाँ कमल, कुवलय (नीलकमल) और कनकलता का नायिका के मुख, नेत्र और शरीर से भेद होने पर भी अभेद माना गया है । यहाँ भेद में अभेद-रूपा अतिशयोक्ति है ।

(ख) अभेद में भेद

अन्येयं रूपसम्पत्तिरन्या वैदग्ध्यधोरणी
नैषा कमलपत्राक्षी सृष्टिः साधारणी विधेः ॥[3]

"कमलपत्र के सदृश नेत्र वाली यह सुन्दरी ब्रह्मा की साधारण सृष्टि नहीं है । इसकी रूपशोभा और चतुरता कुछ विलक्षण ही है ।"

यहाँ 'रूप' आदि के अभिन्न होने पर भी 'अन्य' आदि पद के प्रयोग से भेद माना गया है ।

---

१. प्रतापरुद्रीय विद्यानाथ ने पांचों भेदों का एक ही स्थान पर विवेचन किया है । एकावलीकार विद्याधर ने सादृश्यमूलक अतिशयोक्ति के चार भेदों के वर्णन के उपरान्त पांचवें भेद का विवेचन विशेषोक्ति अलंकार के पश्चाद् किया है ।
२. चि० मी०, पृ० ३२०
३. वही, पृ० ३२०

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(ग) सम्बन्ध में असम्बन्ध

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।
वेदाभ्यासजडः कथं स विषयव्यावृतकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥[1]

"इसके निर्माण में चन्द्रमा का हाथ था, अथवा काम का या वसन्त का ? वेद पढ़ते-पढ़ते जो हृदय की कोमल भावनाओं से शून्य हो गया है वह विषय-विमुख पुरातन मुनि ब्रह्मा ऐसे सुन्दर रूप को कैसे वना सकता है ?"

यहाँ नायिका के अपूर्व रूप का प्रजापति द्वारा सृजन-सम्बन्ध होने पर भी सम्वन्ध नहीं माना गया है । अतः 'सम्बन्धे असम्बन्धरूपा' अतिशयोक्ति है ।

(च) असम्बन्ध में सम्बन्ध

दाहोम्भः प्रसृतिम्पचः प्रचयवान्वाष्पः प्रणालोचितः
श्वासाः प्रेंखितदीप्तदीपकलिकाः पाण्डिम्नि मग्नं वपुः ।
किञ्चांन्यत्कथयामि रात्रिमखिलां त्वन्मार्गवातायने
हस्तच्छत्रनिरुद्धचन्द्रमहसस्तस्याः स्थितिर्वर्तते ॥[2]

"गर्भ आँसू प्रतिपल बढ़ते जा रहे हैं। दिये की जलती हुई बाती उसके गहरे श्वासों से काँप रही है । शरीर पीला पड़ गया है । चन्द्रमा की दाहक किरणों को हाथों से रोककर वह तुम्हारे मार्ग की खिड़की में बैठी हुई तुम्हारी वाट जोह रही है ।"

यहाँ चन्द्रमा की किरणों का दाहादि से सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध मान लिया गया है ।

इस प्रकार अतिशयोक्ति के चार भेदों का सोदाहरण वर्णन करने के पश्चात् दीक्षित ने विद्यानाथ के अतिशयोक्तिलक्षण में "विषयस्यानुपादानात्" इस अंश की आलोचना की है । "विषय का उपादान न करते हुए" इस अंश के दो अर्थ हो सकते हैं : (१) जहाँ विषय (मुख आदि) के प्रतिपादक पद का अभाव हो अथवा (२) जहाँ विषय के वाचक पद का अभाव हो । यदि हम पहला अर्थ

१. विक्रमोर्वशीय, चि० मी०, पृ० २१२
२. विद्धशालभञ्जिका, २.११, चि० मी०, पृ० ३२०

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

लेते हैं तो अतिशयोक्ति के "भेदे अभेदः" इस प्रकार के उदाहरण[1] में, जहाँ विषय के लिए उसके लाक्षणिक विषयिवाचक पद का प्रयोग होता है, विद्यानाथ का लक्षण घटित नहीं हो सकेगा। जब हम मुख के लिये कमल शब्द का प्रयोग करते हैं तो कमल शब्द लक्षणा से मुख का प्रतिपादक हो ही जाता है, भले ही वह वाचक न हो।

यदि दूसरा अर्थ लेते हैं तो "चुम्बतीव रजनीमुखं शशी"[2] इस उदाहरण में, जहाँ श्लेषमूला अतिशयोक्ति है, श्लिष्ट मुख पद अपने अर्थ का बोध कराकर रात्रि के "आरम्भ" (प्रदोष) अर्थ का भी वाचक हो जाता है। ऐसे स्थलों में विद्यानाथ का लक्षण घटित नहीं होगा।

इन दोषों के निवारणार्थ काव्यशास्त्रियों ने 'विषयस्यानुपादानात्' के अन्य अर्थ किये हैं :

(१) "जहाँ विषयिप्रतिपादक शब्द से पृथक् विषयप्रतिपादक शब्द का अभाव हो।"

किन्तु, ऐसा मानने पर भी लक्षण की संगति नहीं बैठती। क्योंकि श्लेषमूला अतिशयोक्ति में, जहाँ विषयिप्रतिपादक और विषयप्रतिपादक का अलग-अलग प्रयोग होता है, उक्त लक्षण घटित न हो सकेगा। जैसे—

पल्लवतः कल्पतरोरेष विशेषः करस्य ते वीर।
भूषयति कर्णमेकः परस्तु कर्णं तिरस्कुरुते ॥[3]

"वीर! तुम्हारे हाथ में कल्पवृक्ष के पल्लव की तुलना में यह विशेषता पायी जाती है कि वह (कल्पवृक्ष) देवांगनाओं के कानों को सुशोभित करता है, जबकि तुम्हारा हाथ दानवीरता में (अंगराज) कर्ण का तिरस्कार करता है।"

यहाँ विषयिप्रतिपादक कर्ण शब्द का विषयप्रतिपादक कर्ण शब्द से अलग प्रयोग हुआ है। अतः ऐसे स्थलों में उक्त लक्षण की संगति न हो सकेगी।

(२) "जहाँ विषयिप्रतिपादक से सर्वथा विलक्षण विषयप्रतिपादक का अभाव हो" ऐसा मानने पर भी लक्षण निर्दोष नहीं हो सकता—

---

१. चि० मी०, पृ० ३२०
२. वही, पृ० १५३
३. एकावली, ८. चि० मी०, पृ० ३२२

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं
नवोपहारेण वयस्कृतेन किम् ?
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा
नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत् ।।[1]

"दमयन्ती के वक्षःस्थल पर जो स्तनरूपी दो कुम्भ प्रकट हुए क्या वे यौवन के उपहार थे ? तभी तो उस सुन्दरी ने (उन कुम्भों के सहारे) लज्जारूपी नदी के दुर्ग को पार करके नल के हृदय में प्रवेश किया ।"

इस पद्य में जहाँ विषयिप्रतिपादक कुम्भयुग के द्वारा कुचद्वय (विषय) का निगरण हुआ है वहाँ 'उरोभुवा' पद के द्वारा विषयिप्रतिपादक से विलक्षण विषय प्रतिपादक का प्रयोग हुआ है । ऐसे स्थलों में विद्यानाथ का लक्षण घटित न हो सकेगा । इसी प्रकार—

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां
वैशेषिकं चारु मतं मतं मे ।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं य—
त्क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय ।।[2]

"सुन्दरी ! मेरे विचार में अन्धकार (तमोगुण) की विवेचना में वैशेषिक दर्शन सबसे उत्कृष्ट है । इसे उल्लूकदर्शन इसलिये कहा जाता है कि यह अन्धकार (तमोगुण) का निरूपण करता है ।"

यहाँ औलूक दर्शन विषयी है और वैशेषिक मत विषय है । कवि ने विषय और विषयी दोनों के प्रतिपादक शब्दों का अलग-अलग प्रयोग किया है । ऐसे स्थलों में भी विद्यानाथ का लक्षण घटित नहीं होता ।

दूसरी ओर, अनन्वय, श्लिष्टरूपक और सारूप्यसमासोक्ति में, जहाँ विषय-विषयी दोनों का वाचक पद अलग-अलग नहीं होता इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी ।

इस प्रकार दीक्षित के मत में विद्यानाथ का अतिशयोक्ति लक्षण दोषग्रस्त होने के कारण ग्राह्य नहीं है ।

---

१. नैषधीयचरित, १.४८; चि० मी०, पृ० १९३
२. नैषधीयचरित, २२.३६; चि० मी०, पृ० ३२३

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यहाँ विद्यानाथ के अतिशयोक्ति लक्षण की अपूर्णता प्रदर्शन के साथ ही चित्र-मीमांसा अपूर्ण रूप में समाप्त हो जाती है । किन्तु, इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि चित्रमीमांसा में विवेचित बारह अलंकार ही चित्रकाव्य के उपस्कारक हैं । सामान्यतः अलंकारवादियों ने सभी अलंकारों को चमत्काराधायक होने के कारण चित्रकाव्य का उपस्कारक माना है । अलंकारवादी होने के नाते दीक्षित भी इसी मत के अनुयायी हैं । कुवलयानन्द में उन्होंने १३३ अलंकारों का वर्णन किया है । यद्यपि यह वर्णन अलंकारों की चित्रोपस्कारकता को ध्यान में रखकर नहीं किया गया तो भी उसमें कहीं-कहीं कुछ ऐसे तत्त्वों के संकेत निहित हैं जिनसे उनकी चित्रोपस्कारकता का परिचय मिल जाता है । चित्र की दृष्टि से यहाँ इनमें से कतिपय अलंकारों का विवरण प्रस्तुत करना असंगत नहीं होगा ।

ऊपर कहा गया है कि चित्रमीमांसा अतिशयोक्ति के अधूरे वर्णन पर समाप्त हो जाती है । दीक्षित को कैसा अतिशयोक्ति लक्षण अभिमत था इसके लिये हमें कुवलयानन्द के अतिशयोक्ति प्रकरण को देखना होगा । कुवलयानन्द में[1] अतिशयोक्ति का लक्षण इस प्रकार है—

"विषयस्य स्वशब्देनोल्लेखनं विनापि विषयिवाचकेनैव शब्देन ग्रहणं विषय-निगरणं तत्पूर्वकं विषयस्य विषयिरूपतयाऽध्यवसन माहार्यनिश्चयस्तस्मिन् सति अतिशयोक्तिः ।"

"जहाँ विषय का स्वशब्द से निर्देश न हो, अपितु विषयी के वाचक शब्द द्वारा उसका बोध हो । दूसरे शब्दो में, जहाँ विषय का विषयी द्वारा निगरण होकर विषयी के रूप में अध्यवसान हो ।"

इसी लक्षण को चित्रमीमांसा व्याख्याकार धरानन्द ने[2] कुछ परिवर्तनों के साथ इस प्रकार रखा है —

विषयोल्लेखनमृते विषयाध्यवसायात्माभिधानतः ।
तस्योक्तिर्व्यंग्यभिन्ना याऽतिशयोक्तिः सा मता ॥

यह अतिशयोक्ति का सामान्य लक्षण है। किन्तु, यह अध्यवसायमूलक अलंकार व्यापक अर्थ में कई अन्य अलकारों में भी पाया जाता है । व्यंजनावादी मम्मट के

१. कुवलयानन्द, पृ० ४४
२. चि० मी०, पृ० ३२५

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

विचार में इसके विना कोई अलंकार ही नहीं हो सकता।[१] अलंकारवादियों के मत में भी यह सभी अलंकारों का जीवित है। भामह और कुन्तक की कृतियों में इसी का नामान्तर वक्रोक्ति है। "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" ऐसा कहकर कुन्तक ने अतिशयोक्ति की ही प्रशंसा की है। अतिशयपूर्वक चमत्कारधायक होने के कारण चित्रकाव्य के निर्माण में इसका योगदान महत्त्वपूर्ण है।

○○○

---

१. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

कुवलयानन्द

दीक्षित की तीसरी प्रसिद्ध कृति कुवलयानन्द है। प्रसंगवशाद्, अर्थचित्रोपस्कारक कतिपय अलंकारों का वर्णन करना आवश्यक ही होगा—

अर्थचित्रोपस्कारक कतिपय अलंकारों का वर्णन—

दृष्टान्त

सभी अलंकारों में जहाँ साधर्म्य बिम्बप्रतिबिम्बभाव से उपस्कृत है उपमा के पश्चात् दृष्टान्त का गौरवपूर्ण स्थान है। कुवलयानन्द में दीक्षित बिम्बप्रतिबिम्बभाव को दृष्टान्त का अनिवार्य तत्त्व मानते हैं। दृष्टान्त के लक्षण में इस प्रकार कहा है :—

चेद्बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलंकृतिः ।[1]

"जहाँ उपमेय वाक्य और उपमान वाक्य में निर्दिष्ट भिन्न धर्मों में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव हो।" जैसे—

'त्वमेव कीर्तिमान् राजन् विधुरेव हि कान्तिमान् ।'[2]

"राजन् ! केवल तुम ही कीर्तिमान् हो, जैसे केवल चन्द्रमा ही कान्तिमान् है।"

---

१. कुवलयानन्द, पृ० ६७
२. वही, पृ० ६७

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यहाँ पहले वाक्य में कीर्तिमत्त्व और दूसरे वाक्य में कान्तिमत्त्व धर्म का निर्देश हुआ है। कीर्ति और कान्ति में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव स्पष्ट ही है।

दीक्षित ने दृष्टान्त का यह उदाहरण चन्द्रालोक से उद्धृत किया है। इसी का अन्य उदाहरण वे रघुवंश[1] से उद्धृत करते हैं—

कामं नृपाः सन्ति सहस्रशोऽन्ये
राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।
नक्षत्रताराग्रहसंकुलाऽपि
ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः॥

"इस भूतल पर भले ही हजारों राजा हैं तो भी इसी राजा के कारण पृथ्वी राजन्वती कहलाती है। रात्रि भले ही सैंकड़ों नक्षत्र और तारों से युक्त है तो भी वह चन्द्रमा के ही कारण ज्योतिष्मती कहलाती है।"

यहाँ उपमान वाक्य और उपमेय वाक्य में भिन्न धर्मों में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव निर्दिष्ट हुआ है।

निदर्शना—

सादृश्यमूलक अलंकारों में दृष्टान्त की तरह निदर्शना की भी गणना है। कुवलयानन्द में[2] निदर्शना का लक्षण इस प्रकार है—

वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना।

"जहाँ उपमेय वाक्यार्थ पर उपमान वाक्यार्थ का अभेदारोप हो।"

कुवलयानन्द में निदर्शना के कई भेद दिये हैं। इनमें 'अभवद्वस्तुसम्बन्ध' एक भेद है, जिसमें प्रकृत और अप्रकृत पदार्थों के धर्म गम्य होते हैं और बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का आक्षेप किये बिना वाक्यार्थ का बोध नहीं होता। उक्त लक्षण में 'वाक्यार्थयो : सदृशयोः' ऐसा कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि उपमान-उपमेय दो वाक्यों में ही हों, अपितु यह विवक्षित है कि उपमान-उपमेय के धर्म में बिम्बप्रतिबिम्बभाव हो। अतएव दीक्षित ने असम्भवद्वस्तुसम्बन्ध निदर्शना के भेदों में एकवाक्यगा निदर्शना का भी निर्देश किया है।

---

१. रघुवंश, ६ २२
२. कुवलयानन्द, पृ० ६९

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

(क) एकवाक्यगा निदर्शना के उदाहरण में—

दोर्म्यामब्धिं तितीर्षन्तस्तुष्टुवुस्ते गुणार्णवम् ।[1]

"हाथों से समुद्र तैरने की इच्छा करते हुए उन्होंने तुम्हारे गुणसमुद्र की प्रशंसा की ।"

यहाँ एक ही वाक्य में उपमेय के विशिष्टधर्म–गुणस्तवन और उपमान के विशिष्टधर्म—हाथों से समुद्र तैरने भी इच्छा में ऐक्यारोप किया गया है ।

(ख) अनेक वाक्यगा निदर्शना, जैसे—

अरण्यरुदितं कृतं शवशरीरमुद्वर्तितं
स्थलेऽब्जमवरोपितं सुचिरमूषरे वर्षितम् ।
श्वपुच्छमवनामितं बधिरकर्णजापः कृतो
धृतोऽन्धमुखदर्पणो यदबुधो जनः सेवितः ॥[2]

"जिसने मूर्ख की सेवा की उसने अरण्यरोदन किया, शव पर उवटन किया, स्थल पर कमल को लगाया, ऊसर भूमि पर वहुत देर वर्षा की, कुत्ते की पूँछ को सीधा किया, बहरे के कान में चिल्लाया, अन्धे के सामने दर्पण रखा ।"

यहाँ उपमेय वाक्यार्थ मूर्खजन-सेवा है जिस पर अरण्यरोदन आदि अनेक उपमान वाक्यार्थों का ऐक्यारोप किया गया है ।

यहाँ पर एक अन्य तथ्य भी विचारणीय है : निदर्शना में बिम्बप्रतिबिम्बभाव दो प्रकार से रहता है : (१) कहीं उपमेय पर उपमान धर्म का और (२) कहीं उपमान पर उपमेय धर्म का आरोप करने से । दीक्षित ने कुवलयानन्द में दोनों प्रकारों के उदाहरण दिये हैं—

(अ) उपमेय पर उपमान धर्म का आरोप । जैसे—

त्वन्नेत्रयुगलं धत्ते लीलां लीलाम्बुजन्मनोः ।[3]

"तुम्हारे दोनों नेत्र दो नील कमलों की शोभा को धारण कर रहे हैं ।"

---

१. कुवलयानन्द, पृ० ७३
२. वही, पृ० ७०
३. वही, पृ० ७२

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यहाँ उपमेय नेत्र पर उपमान नीलकमल के धर्म का आरोप हुआ है।

(आ) उपमान पर उपमेय धर्म का आरोप। जैसे—

वियोगे गौडनारीणां यो गण्डतलपाण्डिमा।
अदृश्यत स खर्जूरीमञ्जरीगर्भरेणुषु ॥[1]

"प्रिय के वियोग में गौड देश की युवतियों के कपोलों पर जो पीलापन आ गया वह खर्जूरमंजरी के पराग में दिखायी दिया।"

यहाँ उपमान खर्जूरमंजरी पर उपमेय 'गण्डपाण्डिमा' के धर्म का आरोप हुआ है।

प्रतिवस्तूपमा—

वाक्ययोरेकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता।[2]

"जहाँ उपमान वाक्य और उपमेय वाक्य में एक ही समान धर्म पृथक्-पृथक् रूप से निर्दिष्ट हुआ हो।" जैसे—

तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे
निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे
मधुव्रतो नेक्षुरसं समीक्षते ॥[3]

"तुम्हारे अमृतवर्षी पादारविन्द में अनुरक्त व्यक्ति अन्य वस्तु की इच्छा कैसे कर सकता है? रस से परिपूर्ण कमल के रहते हुए भौंरा ईख के रस को नहीं देखता।"

यहाँ उपमेय और उपमान दोनों वाक्यों में इच्छानिवृत्तिरूप समान धर्म का पृथक्-पृथक् निर्देश हुआ है।

प्रतिवस्तूपमा और दीपक में अन्तर

प्रतिवस्तूपमा में एक वाक्य प्रस्तुत (उपमेय) परक और दूसरा वाक्य अप्रस्तुत (उपमान) परक होता है, जबकि दीपक में दोनों वाक्य या तो प्रस्तुत होते हैं या

१. कुवलयानन्द, पृ० ७२
२. वही, पृ० ६३
३. वही, पृ० ६४

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

अप्रस्तुत। और भी, दीपक साधर्म्य में ही होता है, प्रतिवस्तूपमा वैधर्म्य में भी होती है। जैसे—

विद्वानेव हि जानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्।
नहि वन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम्॥

"विद्वान् के परिश्रम को विद्वान् ही जानता है। वन्ध्या नारी प्रसव वेदना को नहीं जानती।"

यहाँ दो वाक्यों में उपमेय और उपमान के परस्पर विरोधी धर्मों के द्वारा समान धर्म का आक्षेप होता है।

प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त में अन्तर

दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा के भी पृथक् पृथक् वृत्त हैं, जो एक-दूसरे को नहीं काटते। दृष्टान्त में उपमानोपमेये वाक्यों में बिम्बप्रतिबिम्ब भावरूप सादृश्य होता है, प्रतिवस्तूपमा में वस्तुप्रतिवस्तुभात्र। किन्तु, अर्थचित्र के निर्माण में दोनों की क्षमता समान है।

कुवलयानन्द में नये अलंकारों का विधान[1]

ऊपर कहा गया है कि कुवलयानन्द में अलंकारों के लक्ष्य-लक्षण चन्द्रालोककार से लिये गये हैं। किन्तु, इसमें कुछ ऐसे अलंकार भी हैं जो चन्द्रालोक में नहीं

---

१. अर्थालंकारों की तालिका में अप्पय दीक्षित ने जिन नये अलंकारों को मान्यता दी है, वे निम्न हैं—

१. प्रस्तुतांकुर	१०. गूढोक्ति
२ अल्प	११. विवृतोक्ति
३. कारकदीपक	१२. युक्ति
४. मिथ्याध्यवसिति	१३. लोकोक्ति
५. ललित	१४. छेकोक्ति
६. अनुज्ञा	१५. निरुक्ति
७. मुद्रा	१६. प्रतिषेध
८. रत्नावली	१७. विधि
९ विशेषक	

दीक्षित के उक्त अलंकारों के विषय में, विद्वानों में मतभेद है। किन्तु, हम मतभेद से दूर रहकर केवल दीक्षित के विचारों को ही प्रस्तुत करेंगे।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

मिलते । इनमें से कुछ तो अन्य आचार्यों की देन हैं, कुछ स्वयं दीक्षित के विचारों की उपज हैं । दीक्षित को इन अलंकारों का विधान क्यों करना पड़ा ? इसके पीछे जो रहस्य है वह इन अलंकारों के निम्न व्याख्यान में स्पष्ट हो जायेगा ।

प्रस्तुतांकुर [1]

प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुताङ्कुरः ।
किं भृङ्ग । सत्यां मालत्यां केतक्या कण्टकेद्धया ।।

"जहाँ प्रस्तुत वृत्तान्त के द्वारा अन्य प्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति हो ।" जैसे—"अरे भ्रमर ! मालती के होते हुए काँटों से घिरी केतकी से क्या लाभ ।"

यहाँ भ्रमर के प्रति नायिका ने जो कुछ कहा वह वाक्य का प्रस्तुत वाच्यार्थ है । इस प्रस्तुत वाच्यार्थ से अन्य प्रस्तुत वाच्यार्थ का बोध होता है कि मुझ सुन्दरी के रहते हुए अन्य नायिका व्यर्थ है । 'कण्टकेद्धया' पद से यह भी प्रतीत होता है कि अन्य नायिका का सम्बन्ध कई कामुकों से है ।

ध्वनिवादियों के मत में यहाँ भृंगवृत्तान्त अप्रस्तुत है और वह वाक्य का वाच्यार्थ है और उससे प्रस्तुत कामुक वृत्तान्त की व्यंजना होती है जो कि वाक्य का व्यंग्यार्थ है । इसलिए वे यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसालंकार मानते हैं ।[2] अभिधावादी दीक्षित को यह मत मान्य नहीं है । क्योंकि, एक तो वे वाक्य के प्रस्तुत अप्रस्तुत दोनों अर्थों को वाक्य का वाच्यार्थ ही मानते हैं । दूसरे, प्रस्तुतांकुर में उन्होंने दोनों अर्थों को प्रस्तुत ही माना है । यदि ध्वनिवादी कहे कि यहाँ वाच्यार्थ से प्रस्तुत व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है तो भी ठीक नहीं । क्योंकि, शब्द व अर्थ की शक्ति से आक्षिप्त अर्थ व्यंग्य हो यह आवश्यक नहीं है । स्वयं

---

१. कुवलयानन्द पृ० ११५

२. (क) जगन्नाथ ने अप्रस्तुतप्रशंसा प्रकरण में प्रस्तुतांकुर को पृथक् मानने का खण्डन किया है—"एतेन द्वयोः प्रस्तुतत्वे...इत्यसकृदावेदितत्वाद् । (रसगङ्गाधर, पृष्ठ ५४४)

(ख) अप्पय दीक्षित के प्रस्तुतांकुर अलंकार के उदाहरण "किंभृग !..." में नागेश ने भी अप्रस्तुतप्रशंसालंकार माना है—"अतेवं बोध्यम्.. दिक्" (उद्योत पृ० ४८९)

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ध्वनिवादी आनन्दवार्धन ने ऐसी स्थिति में अलंकारध्वनि न मानकर अलंकार ही माना है ।[१]

अल्प [२]

अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयाद्यदाधारस्य सूक्ष्मता ।
मणिमालोर्मिका तेऽद्य करे जपवटीयते ॥

"जहाँ आधेय सूक्ष्म होने पर भी कवि आधार को सूक्ष्म बताये ।" जैसे—"मणिजटित अँगूठी आज तुम्हारे हाथ में जपमाला सी दीख रही है ।"

अँगूठी बहुत पतली है । किन्तु, हाथ विरह के कारण अँगूठी से भी पतला हो गया है ।

काव्यशास्त्रियों ने इसे अधिक का ही भेद माना है ।[3] काव्यप्रकाश की टीका उद्योत में नागेश ने इसे अलंकार ही नहीं माना । [४]

कारक दीपक [५]

क्रमिकैकगतानां तु गुम्फः कारकदीपकम् ।
गच्छत्यागच्छति पुनः पान्थः पश्यति पृच्छति ॥

"जहाँ एक कारक के साथ अनेक क्रियाओं का वर्णन हो । "जैसे—'पथिक जाता है, फिर लौटकर आता है, देखता है, पूछता है ।"

---

१. कुवलयानन्द, पृ० ११६, ध्वन्यालोक, २.२४

शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यंग्योऽर्थः कविना पुनः ।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या साऽन्यैवालंकृतिर्ध्वनेः ॥

"जहाँ कवि शब्दशक्ति वा अर्थशक्ति के द्वारा आक्षिप्त व्यंग्यार्थ को पुनः अपनी उक्ति से प्रकट कर दे, वहाँ ध्वनि से भिन्न अन्य ही अलंकार होता है ।"
दीक्षित का कथन है कि इस तथ्य को उन्होंने चित्रमीमांसा में प्रकट किया है । किन्तु, उपलब्ध चित्रमीमांसा में यह अंश नहीं है ।

२. वही, पृ० १६७

३. आधारापेक्षया आधेयस्य महत्त्वकल्पनारूपाधिक्यभेद एवं पर्यवसानात् "(अलंकार-कौस्तुभ पृ० ३८१)

४. तेन यत्र सूक्ष्यत्वातिशयवत आधारधेयाद्वा—इत्यपास्तम (उद्योत पृ० ५५६)

५. कुवलयानन्द, पृ० १८६

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यहां पथिक के साथ गमनादि चार क्रियाओं का एक साथ वर्णन किया गया है।

कई आलंकारिक इसे दीपक अलंकार का ही प्रकार मानते हैं। किन्तु, दीक्षित के दीपक लक्षण में इसका समावेश नहीं हो सकता, क्योंकि वहां प्रस्तुत, अप्रस्तुत में एक धर्माभिसम्बन्ध होना अनिवार्य है।

चन्द्रालोककार ने आवृत्ति दीपक एवं उसके पदावृत्तिदीपक अर्थावृत्तिदीपक तथा पदार्थमयावृत्तिदीपक भेदों का उल्लेख किया है।[1] मम्मट ने मालादीपक[2] भी स्वीकार किया है। मम्मट ने दीक्षित के कारक दीपक का उल्लेख नहीं किया है।

मिथ्याध्यवसिति[3]

किञ्चिन्मिथ्यात्वसिद्ध्यर्थं मिथ्यार्थान्तरकल्पनम्।
मिथ्याध्यवसितिर्वेश्यां वशयेत्खस्रजं वहन्॥

"जहाँ किसी असत्य की सिद्धि के लिए अन्य असत्य की कल्पना की जाय। जैसे--आकाश पुष्प को पहनने वाला व्यक्ति वेश्या को वश में कर सकता है।"

दोनों बातें असत्य हैं : आकाश में पुष्प नहीं होते और वेश्या वश में नहीं आ सकती। यहाँ एक असत्य की सिद्धि के लिए अन्य असत्य की कल्पना की गयी है।

रसगङ्गाधर में, जगन्नाथ ने इस अलंकार का निराकरण किया है।[४] उनका कहना है कि यदि मिथ्याध्यवसिति अलंकार है तो सत्याध्यवसिति भी अलंकार होना चाहिए। किञ्चिन्मात्र वैलक्षण्य के आधार पर नये अलंकार की कल्पना से तो असंख्य अलंकारों की कल्पना करनी होगी। आलंकारिक इसका समावेश अतिशयोक्ति, प्रौढोक्ति या निदर्शना में करते हैं।

---

१. चन्द्रालोक, पृ० १३३ 'आवृत्तं दीपकपदे भवेदावृत्तिदीपकम्।'

२. काव्यप्रकाश-दशमोल्लास

३. कुवलयानन्द, पृ० २१३

४. रसगङ्गाधर, पृ०६७३ "एकस्य मिथ्यात्वसिद्ध्यर्थं मिथ्याभूतवस्त्वंतरकल्पनं" गतार्थत्वात्। रसगङ्गाधर मिथ्याध्वसिति को 'प्रौढोक्ति' अलंकार में स्वीकार करते हैं।

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ललित[1]

वर्ण्ये स्याद्वर्ण्यवृत्तान्तप्रतिबिम्बस्य वर्णनम् ।
ललितं निर्गते नीरे सेतुमेषा चिकीर्षति ॥

"जहाँ प्रस्तुत वर्ण्य के धर्म का वर्णन न करके उसके प्रतिबिम्बभूत अप्रस्तुत वर्ण्य के धर्म का वर्णन किया जावे ।" जैसे—"तालाब का पानी निकल जाने पर अब यह बाँध बाँधने की इच्छा कर रही है ।"

नायक रुष्ट होकर चला गया है । नायिका उसे मनाने हेतु सखी को भेज रही है । यह देखकर उक्त वचन किसी ने कहा है ।

पण्डितराज जगन्नाथ भी इसे स्वतंत्र अलकार मानते हैं । निदर्शना में इसके अन्तर्भाव की आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वहाँ प्रस्तुत–अप्रस्तुत दोनों का उपादान किया जाता है, जबकि यहाँ अप्रस्तुत का ही । इस अन्तर का दीक्षित ने कालिदास के निम्न पद्य से समर्थन किया है —

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥[2]

"कहाँ वह सूर्य से उत्पन्न वंश और कहाँ यह मेरी तुच्छ बुद्धि ? मैं भूलवश दुस्तर समुद्र को डोंगी से पार करना चाहता हूँ ।"

यहाँ मम्मट ने निदर्शनालंकार माना है । उनके मत में. इस पद्य के पूर्वार्ध में प्रस्तुत और उत्तरार्ध में अप्रस्तुत का बिम्बप्रतिबिम्बभाव से उपादान हुआ है । किन्तु, दीक्षित को यह मत मान्य नहीं है । क्योंकि, उक्त पद के पूर्वार्ध में विषमालंकार के प्रयोग से जो प्रकृत का निर्देश हुआ है वह वाक्य का तात्पर्यार्थ है, शब्दार्थ नहीं है, जबकि निदर्शना में दोनों-प्रस्तुत और अप्रस्तुत–शब्दोपात्त चाहिए । अतएव दीक्षित को ललित अलंकार की कल्पना करनी पड़ी । पण्डित-राज जगन्नाथ भी उक्त पद्य में ललित अलंकार ही मानते हैं । रसगङ्गाधर में उन्होंने मम्मट के मत को असंगत कहा है । किन्तु, यदि हम उक्त पद्य में प्रस्तुत के तात्पर्यार्थगत और अप्रस्तुत के शब्दोपात होने पर आर्थी निदर्शना मान लें

१. रसगङ्गाधर पृ० २१३
२. रघुवंश, पृ० १. २

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

तो फिर ललित अलंकार की कल्पना अनावश्यक हो जाती है । नागेश[१] और विश्वेश्वर[२] इसी पक्ष के समर्थक हैं ।

अनुज्ञा[3]

दोषस्याभ्यर्थनानुज्ञा तत्रैव गुणदर्शनम् ।
विपदः सन्तु नः शश्वद् यासु संकीर्त्यते हरिः ॥

"जहाँ किसी दोष की इच्छा की जाए इसलिए कि वहाँ कोई विशेष गुण निहित है ।" जैसे—"हम पर सदैव विपत्तियाँ आएँ इसलिए कि उनमें भगवद्भजन होता है ।"

विपत्तियाँ अनिष्टकारक हैं, किन्तु उनमें भगवद्भजन रूपी गुण भी उपस्थित हैं । यहाँ व्यतिरेक शैली से वक्ता के कथन का अभिप्राय है कि भगवद्गुणगान से विपत्तियाँ नहीं आती हैं ।

यह अलंकार दीक्षित की ही कल्पना है । दीक्षित ने एक अन्य प्रकार के अनुज्ञालंकार का भी उदाहरण दिया है । इसमें एक शिवभक्त व्यक्ति अपने भावी जन्म में देवैश्वर्य का तिरस्कार करके पिशाच बनना चाहता है, ताकि वह भूतनाथ शिव के समीप रह सके । यहाँ अभीष्ट देवैश्वर्य के तिरस्कार और अनिष्ट पिशाचाव के प्रति रुचि प्रदर्शन से अनुज्ञालंकार है । पण्डितराज जगन्नाथ ने इस प्रकार की स्थिति में तिरस्कार नामक अलंकार की कल्पना की है ।[४]

मुद्रा[५]

सूच्यार्थसूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदैः ।

"जहाँ प्रस्तुत अर्थ से सम्बद्ध पदों के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ का प्रतिपादन किया जावे ।"

यह अलंकार प्रायः संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना में पाया जाता है । जैसे—

१. काव्यप्रकाश व्याख्या-उद्योत, निदर्शना प्रकरण
२. अलंकारकौस्तुभ, निदर्शना प्रकरण
३. कुवलयानन्द, पृ० २२७
४. रसगङ्गाधर, पृ० ६८७ अमुं च तिरस्कारमलक्षयित्वाऽनुज्ञां लक्षयतः कुवलयानन्दकृता विस्मरणमेव शरणम् ।
५. कुवलयानन्द, पृ० २३२

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम् ।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति ।।[१]

"न्यायपथ पर गमनशील व्यक्ति की तिर्यक् जाति भी सहायता करती है। अपथगामी मनुष्य का सगा भाई भी साथ नहीं देता।"

यहाँ प्रकृतार्थ से सम्बन्धित पदों के द्वारा राम-रावण वृत्तान्त की सूचना मिलती है। इष्ट अर्थ की प्रतीति कराने हेतु इसे मुद्रा कहते हैं—"मुदं हर्षं राति ददातीति मुद्रा।"

रत्नावली[२]

क्रमिकं प्रकृतार्थानां न्यासं रत्नावलीं विदुः।
चतुरास्यः पतिर्लक्ष्म्याः सर्वज्ञस्त्वं महीपतेः !।।

"जहाँ प्रकृत अर्थ को प्रसिद्ध क्रम के आधार पर रखा जावे" जैसे – "राजन ! तुम चतुर व्यक्तियों में श्रेष्ठ (चतुर्मुखब्रह्मा), लक्ष्मी के पति (विष्णु) और सर्वज्ञ (शिव) हो।"

यहाँ शास्त्र-प्रसिद्ध-क्रम के अनुसार राजा को ब्रह्मा, विष्णु और शिव कहा गया है ।

विशेषक[3]

'सामान्यरीत्या विशेषास्फुरणे प्राप्ते कुतश्चित्कारणाद्विशेषस्फूर्तौ तत्प्रतिद्वन्द्वी विशेषकः।"

"जहाँ वैशिष्ट्यज्ञान तिरोहित हो और फिर वह सामान्य रीति से नहीं, किसी दूसरे प्रकार से व्यक्त हो।"

यह अलंकार सामान्य अलंकार का प्रतिद्वन्द्वी है। जगन्नाथ ने इसे अनुमान के अन्तर्गत लिया है। किन्तु, अलंकारचन्द्रिकाकार वैद्यनाथ का कथन है कि यदि हम तद्गुण के प्रतिद्वन्द्वी अतद्गुण को, मीलित के प्रतिद्वन्द्वी-उन्मीलित को मान्यता देते हैं तो सामान्य के प्रतिद्वन्द्वी विशेषक को मान्यता क्यों न दी जावे।

---

१. अनर्घराघव, १.३
२. कुवलयानन्द, पृ० २३३
३. वही, पृ० २४३

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

गूढोक्ति[1]

गूढोक्तिरन्योद्देश्यं चेद् यदन्यं प्रति कथ्यते ।
वृषापेहि परक्षेत्रादायाति क्षेत्ररक्षकः ॥

"जहाँ एक को लक्षित करके दूसरे से कोई बात कही जाए ।" जैसे—"अरे बैल तू दूसरे के खेत से हट जा, वह खेत का स्वामी आ रहा है ।"

यहाँ बैल को लक्षित करके कामुक को समझाया जा रहा है । यहाँ बैल और खेत दोनों अप्रकृत हैं । उनसे प्रकृत परकलत्र और कामुक का बोध कराया जा रहा है ।

यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा की आशंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि उसमें कार्य के द्वारा कारण की और कारण के द्वारा कार्य की प्रतीति होती है । यहाँ यह बात नहीं है । यहाँ अर्थश्लेष भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें दोनों पक्ष प्रकृत होते हैं जबकि यहाँ अप्रकृत के द्वारा प्रकृत के व्यवहार की विवक्षा होती है । गूढोक्ति में एक अन्य विलक्षणता भी पायी जाती है कि यहाँ गूढवचन दूसरे को ठगने के लिए प्रयुक्त होते हैं । इस अलंकार में हम एक विशेष चमत्कार पाते हैं ।

विवृतोक्ति[2]

विवृतोक्ति : श्लिष्टगुप्तं कविनाविष्कृतं यदि ।

"जहाँ कवि किसी श्लिष्ट गुप्त वस्तु को प्रकट करे ।" जैसे—

(१) चेतो नलं कामयते मदीयम् ।
"मेरा मन नल को चाहता है ।"

(२) चेतोऽनलं कामयते मदीयम् ।

"मेरा मन अग्नि को चाहता है । अर्थात् यदि मुझे नल का संग न मिला तो मैं अग्नि में जल मरूँगी ।"

(३) चेतो न लङ्कामायते मदीयम् ।
"मेरा मन लङ्का की ओर नहीं जाता ।"

---

१. कुवलयानन्द पृ० २५२
२. वही, पृ० २५३

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यह नैषध में दमयन्ती की उक्ति है। हंस-दमयन्ती संवाद में तृतीय अर्थ प्रकरणोपस्थित है। पहले दो अर्थ श्लिष्ट एवं गुप्त हैं।[1]

ध्वनिवादियों के मत में गूढोक्ति का वस्तुध्वनि में और विवृतोक्ति का गुणीभूत व्यंग्य में समावेश हो जाता है।[2] किन्तु, अलंकारावादी दीक्षित को, जो द्व्यर्थक पदों के प्रस्तुत-अप्रस्तुत अर्थों को वाच्य मानते हैं, इन नये अलंकारों की रचना करनी पड़ी।

युक्ति[3]

"जहाँ किसी गोप्य बात को छिपाने के लिए प्रयुक्त किसी चेष्टा से दूसरों को धोखा दिया जाए। जैसे-नायिका तेरा चित्र बना रही थी, किन्तु किसी को निकट आते देखकर उसने अपने हाथ में पुष्पधनुष का चित्र बना दिया।"

पुष्पधनुष का चित्र बनाकर उसने प्रकट किया कि वह नायक का चित्र नहीं है, कामदेव का चित्र है।

इस अलंकार के तीन चरण हैं: (१) रहस्यगोपन (२) उसके लिए दूसरों की वंचना और (३) वंचना के लिए किसी विशेष क्रिया का अनुष्ठान। अन्तिम चरण विशेष महत्त्व रखता है। प्रथम दो चरणों की शर्तें व्याजोक्ति में भी पायी जाती हैं, किन्तु अन्तिम चरण व्याजोक्ति से इसका पार्थक्य सिद्ध करता है। इन दोनों में कुछ अन्य अन्तर भी हैं। व्याजोक्ति में रहस्य गुप्ति के लिए आकार का गोपन किया जाता है, युक्ति में आकार भिन्न किसी अन्य वस्तु का। व्याजोक्ति में गोपनकार्य वचन द्वारा सम्पन्न होता है, युक्ति में क्रिया द्वारा। जैसे[4]—

दम्पत्योर्निशि जल्पतोर्गृहशुकेनाकर्णितं यद्वच—
स्तत्प्रातर्गुरुसन्निधौ निगदतस्तस्यातिमात्रं वधूः।
कर्णालम्बितपद्मरागशकलं विन्यस्य चञ्चूपुटे
व्रीडार्ता विदधाति दाडिमफलव्याजेन वाग्बन्धनम्॥

"रात्रि में, रतिक्रीड़ा के समय, पति-पत्नी में जो बातें हुई, उन्हें सुनकर घरेलू तोता प्रातः गुरुजनों के सामने कहने लगा। तब लज्जित होकर नायिका

१. नैषधीयचरित, सर्ग ३
२. कुवलयानन्द, पृ० २५४-२५६
३. वही, पृ० २५६
४. वही, पृ० २५६

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ने अपने कर्णभूषण पद्मराग मणि को उसकी चोंच में डाल दिया। इस प्रकार अनारबीज के बहाने उसकी वाणी बन्द कर दी।"

यहाँ क्रिया से, न कि उक्ति से, गुरुजनों को रहस्य सुनने से वंचित किया गया है। दूसरी ओर, व्याजोक्ति में उक्ति के द्वारा रहस्यगोपन होता है, क्रिया के द्वारा नहीं। जैसे:—

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम्॥[1]

"प्रिया के होंठ को सक्षत देखकर किसे रोष न होगा? मेरे मना करने पर भी तूने भौंरे वाले कमल को सूँघा। अब उसका परिणाम भोग।"

वास्तव में कामुक के द्वारा नायिका का अधर खण्डित हुआ है। नायिका की सखी उसके पति को आते देख ऐसा अभिनय कर रही है कि उसने उसे देखा ही नहीं। वह नायिका को उपदेश देती हुई उसके अपराध को छिपाती है। अलंकारकौस्तुभकार विश्वेश्वर ने[2] व्याजोक्ति और युक्ति के इस अन्तर को नहीं माना।

लोकोक्ति [3]

लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति मन्यते।

"जहाँ प्रचलित प्रवाद का अनुकरण हो।"

जैसे— मेघदूत के यक्षसन्देश में—

शेषान् मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।[4]

"शेष चार महीने आँख मीचकर बिताओ।"

दीक्षित के उदाहरण का भी यही आधार है:

सहस्व कतिचिन्मासान् मीलयित्वा विलोचने।[5]

---

१. हाल: गाथा सप्तशती

२. अलंकारकौस्तुभ, पृ० ० ३५८

३. कुवलयानन्द, पृ० २५७, भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में 'लोकोक्तिच्छाया' कहा गया है।

४. 'लोचने मीलयित्वा' यह लोकवादानुकृति है।

५. कुवलयानन्द, पृ० २५७

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

छेकोक्ति[1]

छेकोक्तिर्यत्र लोकोक्तेः स्यादर्थान्तरगर्भिता ।

"जहाँ वक्ता लोकोक्ति के प्रयोग से किसी गूढ अर्थ का बोध कराना चाहता हो ।" जैसे—

भुजग एव जानीते भुजङ्गचरणं सखे !

"साँप ही साँप के पाँव जानता है ।"

यह छेकोक्ति समान व्यवसाय करने वाले दो व्यक्तियों पर लागू होती है । जैसे—"बनिया जाने बनिये का राज ।" इस उक्ति से इस रहस्य का भी उद्घाटन होता है कि काम व्यापार में भी दोनों व्यक्ति सहचर हैं ।

भोज ने इस अलंकार को 'छेकोक्तिच्छाया' कहा है ।

निरुक्ति[2]

निरूक्तिर्योगतो नाम्नामन्यार्थत्वप्रकल्पनम् ।
ईदृशैश्चरितैर्जाने सत्यं दोषाकरो भवान् ।।

"जहाँ पद की अवयव शक्ति के द्वारा किसी नाम का अन्य अर्थ कल्पित किया जाए ।" जैसे—"इन आचरणों से तुम सचमुच दोषाकर (दोषों की खान या चन्द्रमा) हो ।"

यह पद्य योगरूढ 'दोषाकर' पद के 'चन्द्रमा' अर्थ में स्तुतिपरक है, किन्तु यौगिक (दोषों की खान) अर्थ में निन्दापरक है ।

प्रतिषेध[3]

प्रतिषेधः प्रसिद्धस्य निषेधस्यानुकीर्तनम् ।
न द्यूतमेतत्कितव क्रीडनं निशितैः शरैः ।।

"जहाँ प्रसिद्ध निषेध का पुनः प्रतिषेध किया जाए ।" जैसे—"अरे द्यूतकर ! यह द्यूत का खेल नहीं है, बाणों का खेल है ।"

---

१. कुवलयानन्द पृ० २५७ दीक्षित तथा भोजराज की छेकोक्ति में समानता इतनी है कि दोनों का प्रयोक्ता विदग्ध-सामाजिक है)

२. वही, पृ० २६४

३. वही, पृ० २६४

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

यह अक्षकुशल किन्तु कायर व्यक्ति का उपहास है। "युद्ध अक्षक्रीड़ा नहीं है।" यह लोक प्रसिद्ध बात है। इस ज्ञात निषेध के वर्णन का विशिष्ट तात्पर्य यह है कि तेरा कौशल युद्ध कला में नहीं, द्यूतकला में ही है। इस उक्ति से संबोधित व्यक्ति का उपहास किया गया है।

विधि[1]

सिद्धस्यैव विधानं यत्तमाहुर्विध्यलंकृतम्।
पञ्चमोदञ्चने काले कोकिलः कोकिलोऽभवत्॥

"जहाँ पूर्वसिद्ध वस्तु का पुनः विधान किया जाय।" जैसे—"पञ्चम स्वर में कूँकूँ करते समय ही कोयल कोयल होती है।"

इस उक्ति का तात्पर्य यह है कि पञ्चम स्वर में बोलने के कारण ही कोयल प्रिय होती है।

इस प्रसंग में दीक्षित ने एक अद्भुत बात कही है।[2] ध्वनिवादियों के मत में विधि और प्रतिषेध के उदाहरणों में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यरूप व्यंग्यार्थ है, अतः वे ध्वनिकाव्य हैं। किन्तु, दीक्षित ने उनमें विधि प्रतिषेध रूप अलंकार ही माना है, क्योंकि उनमें उक्ति के द्वारा ही व्यंग्यार्थ प्रकट हुआ है, अतः वे ध्वनि का विषय न होकर अलंकार का विषय हैं। इसी प्रकार अन्य अलंकारों के उदाहरणों में भी अप्राकरणिकार्थ वाक्य का व्यंग्यार्थ न होकर वाच्यार्थ ही है। इन स्थितियों में प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों का सम्बन्ध घटित करने वाला वाक्यार्थ अलंकार का ही विषय हो सकता है।

○ ○ ○

---

१. कुवलयानन्द, पृ० २६५
२. वही, पृ० २६६

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

उपसंहार

निर्दिष्ट विवेचन से काव्यशास्त्र के क्षेत्र में दीक्षित के अपूर्व योगदान का परिचय हो जाता है। दीक्षित अलंकारवादी हैं। इन्होंने अलंकार प्रधान वर्णनात्मक चित्रकाव्य का उचित मूल्यांकन किया है। चित्रमीमांसा और कुवलयानन्द के विस्तृत अलंकार विवेचन में हम अलंकारों के यथार्थ स्वरूप और उत्कर्ष का अवलोकन करते हैं।

दीक्षित के विचार में अलंकार प्रधान, वर्णनात्मक चित्रकाव्य व्यंग्यप्रधान ध्वनिकाव्य से कहीं न्यून नहीं है। इस दिशा में दीक्षित की धारणा काव्यशास्त्रियों की मान्यता से सर्वथा भिन्न है। प्रायः सभी काव्यशास्त्री, जिनमें व्यञ्जनावादी आचार्य प्रधान हैं, चित्रकाव्य को अधम काव्य मानते रहे हैं। विश्वनाथ ने ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य काव्यों के अतिरिक्त काव्य के अन्य प्रकार को माना ही नहीं। आचार्य मम्मट ने चित्रकाव्य को निकृष्ट कोटि में रखा है। पण्डितराज जगन्नाथ इसे गुणीभूत व्यंग्य का अजागरूक प्रकार मानते हैं। इन सभी काव्यशास्त्रियों के विपरीत, दीक्षित की धारणा है कि चित्रकाव्य भी ध्वनिकाव्य के समान उत्तम अथवा उत्तमोत्तमकोटि में आ सकता है। इसी लक्ष्य को सामने रख कर उन्होंने कुवलयानन्द और चित्रमीमांसा की रचना की है।

काव्यशास्त्र की कसौटी पर कसने से दीक्षित के इन दोनों काव्यशास्त्रों की रूपरेखा निखर आती है। दोनों कृतियों में, काव्य के चरम लक्ष्य 'रस' के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया। केवल रसनिष्पत्ति के माध्यम को खोजने का प्रयास किया गया है और उस पर विस्तृत चर्चा की गयी है। किन्तु, इस सम्बन्ध में दीक्षित का अन्य काव्यशास्त्रियों से गहरा मतभेद व्यक्त होता है। व्यंजनावादियों के विचार में रसनिष्पत्ति पद और पदार्थ के व्यंग्य-व्यंजक भाव से

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

होती है । इसलिए उन्होंने अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यंजना वृत्ति को माना है । व्यंजनावादियों की इस धारणा से दीक्षित सर्वथा सहमत नहीं हैं। उनके विचार में जैसे व्यंग्य के माध्यम से वैसे अलंकार के प्रयोग से भी रस-निष्पत्ति हो सकती है। दीक्षित का यह कथन उचित भी प्रतीत होता है, क्योंकि संस्कृत साहित्य की अधिकांश रचनाएँ जिनमें महाकवि कालिदास और भवभूति के प्रबन्ध भी सम्मिलित हैं, व्यंग्योपस्थिति के कारण से नहीं, अपितु चित्रोपस्थिति के कारण से उच्चकोटि में गिने जाते हैं । ध्वनिवादियों के अनुसार यदि हम ध्वनि काव्य को ही उत्तम या उत्तमोत्तम मानने लगें और चित्रकाव्य को अधम या हेय, तो संस्कृत साहित्य के अधिकांश काव्य व्यंग्यहीन होने के कारण 'अधम' कोटि में गिने जाएँगे और इने गिने प्रबन्ध ही व्यंग्यता के कारण उत्तम कहलाने के योग्य हो सकेंगे । व्यंजनावादी के पास इन आशंकाओं का कोई समाधान नहीं है। इसलिए हम दीक्षित की इस धारणा से सहमत हैं कि व्यंग्यहीन, वर्णनात्मक, प्रतिकृतिरूप काव्य, यदि वह वैचित्र्य, चमत्कृति और रमणीयता से परिपूर्ण है, रसास्वाद प्रस्तुत करने में सक्षम हो सकता है जैसे दृश्य काव्य के अचेतन दृश्य । इस पृष्ठभूमि में हम वृत्तिवार्तिक के अभिधा प्रकरण की विलक्षणताओं को यथार्थ रूप में समझ सकते हैं।

काव्यशास्त्र की मान्यताओं के अनुसार कोई भी एकार्थक पद अपनी अवयव शक्ति से या समुदाय शक्ति से या अवयव-समुदाय दोनों सम्मिलित शक्तियों से अर्थ-बोध कराता है। पद की इन तीनों शक्तियों को रूढ, योग और योग-रूढ संज्ञा दी गयी है । इस विषय पर काव्यशास्त्र में कोई मतभेद नहीं है, किन्तु द्व्यर्थक पदों की समस्या कुछ विलक्षण ही है । इनमें कभी दोनों अर्थ प्राकरणिक, कभी दोनों अप्राकरणिक और कभी एक अर्थ प्राकरणिक और दूसरा अप्राकरणिक होता है । पहली दोनों स्थितियों में, दोनों प्राकरणिक या दोनों अप्राकरणिक अर्थ अभिधा से प्रतिपादित होते हैं, किन्तु तीसरी स्थिति में, जहाँ पद का एक अर्थ प्राकरणिक और दूसरा अप्राकरणिक होता है व्यंजनावादी प्राकरणिक अर्थ को वाच्य और अप्राकरणिक को व्यंग्य मानते हैं, जबकि दीक्षित के विचार में दोनों प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थ वाच्य हैं। तब उनमें सम्बन्ध स्थापित करने वाला अलंकार ही व्यंग्य हो सकता है ।[1] अतएव दीक्षित ने चित्रमीमांसा में अलंकार को अलंकारध्वनि से पृथक् माना है और अलंकारध्वनि

१. वृ० वा० पृ० १५, १६

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

में अलंकार लक्षण की अतिव्याप्ति को रोकने के लिए 'अव्यंग्य' शब्द का प्रयोग किया है।[1]

चित्रमीमांसा में, दीक्षित ने, अलंकार और अलंकार ध्वनि के पार्थक्य का बहुत स्पष्ट विवेचन किया है। उपमा अलंकार के प्रसंग में हम उपमाध्वनि के वस्तु, अलंकार और रसात्मक तीन भेद पाते हैं। दीक्षित ने इन तीनों प्रकारों को महाकवियों के काव्यों से उदाहृत किया है। तीनों प्रकार, काव्य में, अलग-अलग और एक साथ मिलकर भी रहते हैं। चित्रमीमांसा में, दीक्षित ने, उपमा-ध्वनि के दोनों–शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक-प्रकारों को उदाहृत किया है।[2]

इसी प्रसंग में, यहाँ एक अन्य तथ्य भी विचारणीय है। आज तक काव्य-शास्त्री रसध्वनि को 'असंलक्ष्यक्रम' ही मानते चले आये हैं। किन्तु, दीक्षित ने इसे 'संलक्ष्यक्रम' भी माना है।[3] वे अपने मत की पुष्टि में अभिनवगुप्त के एक कथन को उद्धृत करते हैं।[4] इसके अनुसार रस, भाव, उनके आभास एवं भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता— ये सब असंलक्ष्यक्रम का विषय होते हुए भी कहीं-कहीं संलक्ष्यक्रम हो जाते हैं। दीक्षित के विचार में ध्वनिकार आनन्दवर्धन का भी यही मत है।[5]

ऊपर कहा गया है कि चित्रमीमांसा में दीक्षित ने अलंकार और अलंकार ध्वनि के पार्थक्य का स्पष्ट विवेचन किया है। किन्तु, इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि चित्र और ध्वनि—तत्त्व परस्पर विरोधी हैं। वास्तव में, दोनों के साहचर्य से उत्तमोत्तम काव्य का सृजन हो सकता है। दोनों परस्पर पूरक हैं। ध्वनिकाव्य में चित्र भी रह सकता है और चित्रकाव्य में ध्वनि भी रह सकती है। दोनों में जो प्रधान होगा उसी से काव्य की संज्ञा होगी।

अन्त में, इस तथ्य का पुनर्वचन भी आवश्यक है कि रसाभिव्यक्ति ही काव्य का मुख्य उद्देश्य है। वही उसके परीक्षण की कसौटी है। दीक्षित की तीनों

---

१. चित्रमीमांसा, पृ० ३५ 'यदव्यंग्यमपि चारु तच्चित्राम् ।'
२. वही, पृ० ११८, ११९
३. वही, पृ० ११६, ११७
४. वही, पृ० ११७
५. वही, पृ० ११७

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

काव्यशास्त्रीय कृतियों का अन्तिम लक्ष्य है इस तथ्य का उद्घाटन करना कि वाच्यप्रधान अलंकारोपस्कृत प्रतिकृतिरूप चित्रकाव्य उसी प्रकार रसास्वादन कराने में माध्यम हो सकता है जैसे व्यंग्यात्मक ध्वनिकाव्य । दूसरे, वही अलंकार जो चित्रकाव्य के उपस्कारक हैं ध्वनिकाव्य को भी अलंकृत करते हैं। अतएव चित्रमीमांसा में, दीक्षित ने, चित्रकाव्य के प्रसंग में अलंकार और अलंकार ध्वनि–दोनों का निरूपण किया है और कुवलयानन्द में[1] उन स्थितियों का विश्लेषण किया है जहाँ रस, भाव, रसाभास-भावाभाव, भावशान्ति क्रमशः रसवत्, प्रेय, उर्जस्वि, समाहित अलंकार हो जाते हैं और भाव की तीनों अवस्थायें–उदय, सन्धि और शबलता इन्हीं नामों से अलंकार बन जाती हैं।

○ ○ ○

१: कुवलयानन्द, पृ० २६९-२७४

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ग्रन्थ-सूची

अप्पय दीक्षित	कुवलयानन्द (चौखम्बा १९६३) सं० व्यास, चित्रमीमांसा (वाणीविहार १९६५) सं० शुक्ल, वृत्तिवार्तिक (चौखम्वा)
आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक (चौखम्बा) सं० शास्त्री
उद्भट	काव्यालंकार सार संग्रह (पूना १९३२)
कुन्तक	वक्रोक्तिजीवित, सं० नगेन्द्र
केशवमिश्र	अलंकारशेखर (चौखम्बा) सं० शास्त्री
जगन्नाथ	रसगङ्गाधर (बम्बई १९३९) सं० दुर्गाप्रसाद
जयदेव	चन्द्रालोक (चौखम्बा १९६०) सं० शर्मा
दण्डिन्	काव्यादर्श (कलकत्ता १८०३ शके) सं० चट्टोपाध्याय
भामह	काव्यालंकार (पटना) सं० शर्मा
भोज	सरस्वतीकण्ठाभरण (काव्यमाला, वम्बई १९३४)
मम्मट	काव्यप्रकाश, सं० सत्यव्रतसिंह
राजशेखर	काव्यमीमांसा (चौखम्बा १९३४)
रुद्रट	काव्यालंकार सं० चौधुरी
रुय्यक	अलंकारसर्वस्व (काव्यमाला, बम्बई १९३९) सं० द्विवेदी
वामन	काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (वाणीविलास, १९०९)
विद्यानाथ	एकावली, सं० त्रिवेदी
बिश्वनाथ	साहित्यदर्पण (लाहौर, १९३८)
विश्वेश्वर	अलंकारकौस्तुभ
शोभाकर	अलंकाररत्नाकर (पूना, १९४२) सं० देवधर
हेमचन्द्र	काव्यमीमांसा (वम्बई १९३८) सं० पारख

○ ○ ○

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

ह.वे. १५८८७५

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

वाल्मीकि विद्यापीठ पुस्तकालयः

प्रत्यावर्तनतिथिः

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

Acc. No. 17875

Class No: 920·921 BooK No. SHA

Author शर्मा, नरेन्द्रनाथ

Title अप्पय दीक्षित

Due on	Borrower's Name	Returned on

MAHENDRA SANSKRIT UNIVERSITY

महेन्द्र संस्कृत विश्वविद्यालय

वाल्मीकि विद्यापीठ

पुस्तकालय

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri.Funding: MIDF

9
S

Nepal Sanskrit University, Balmeeki Campus, Kathmandu